* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ७६

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ५

सुदामा-सत्कार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण
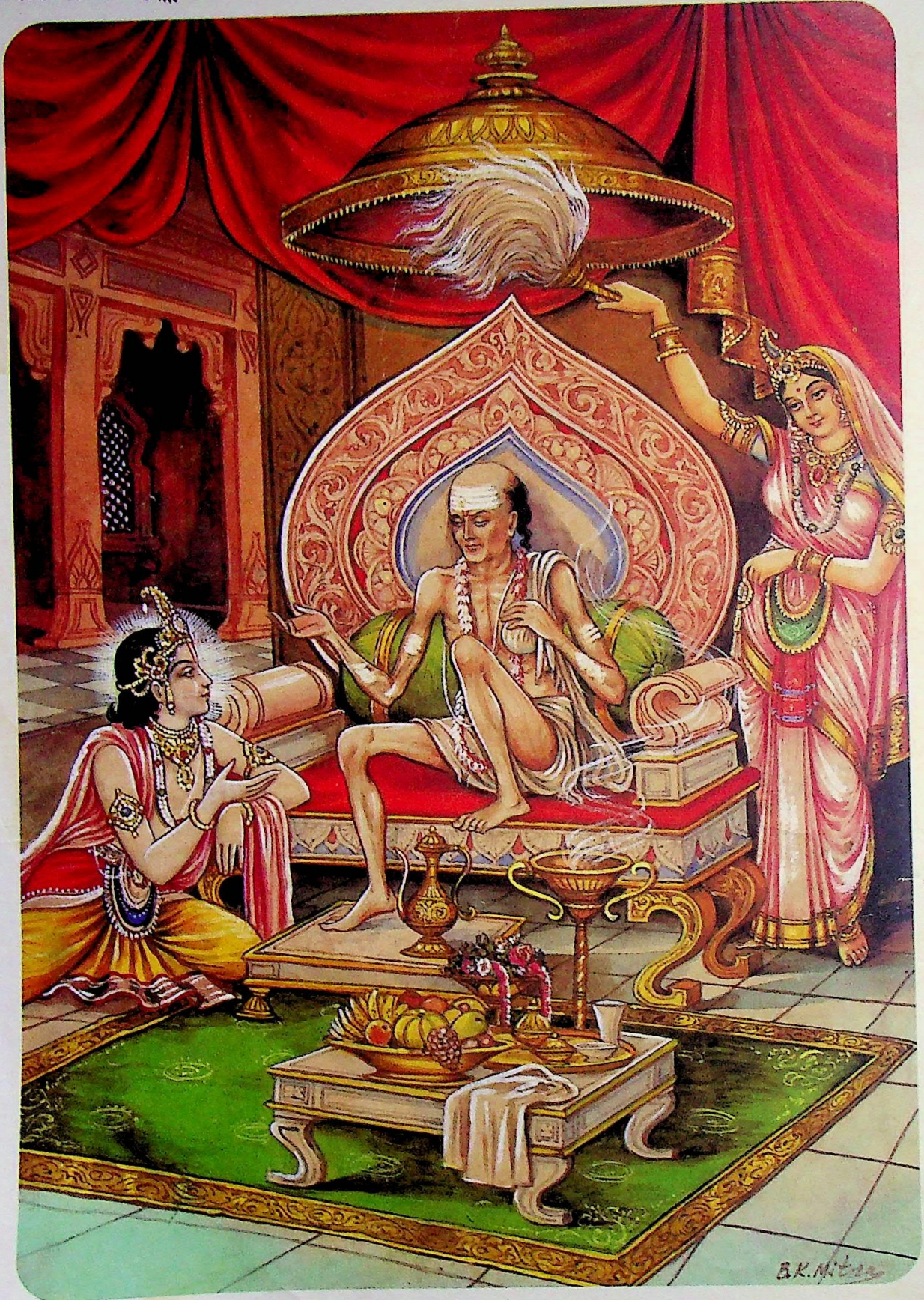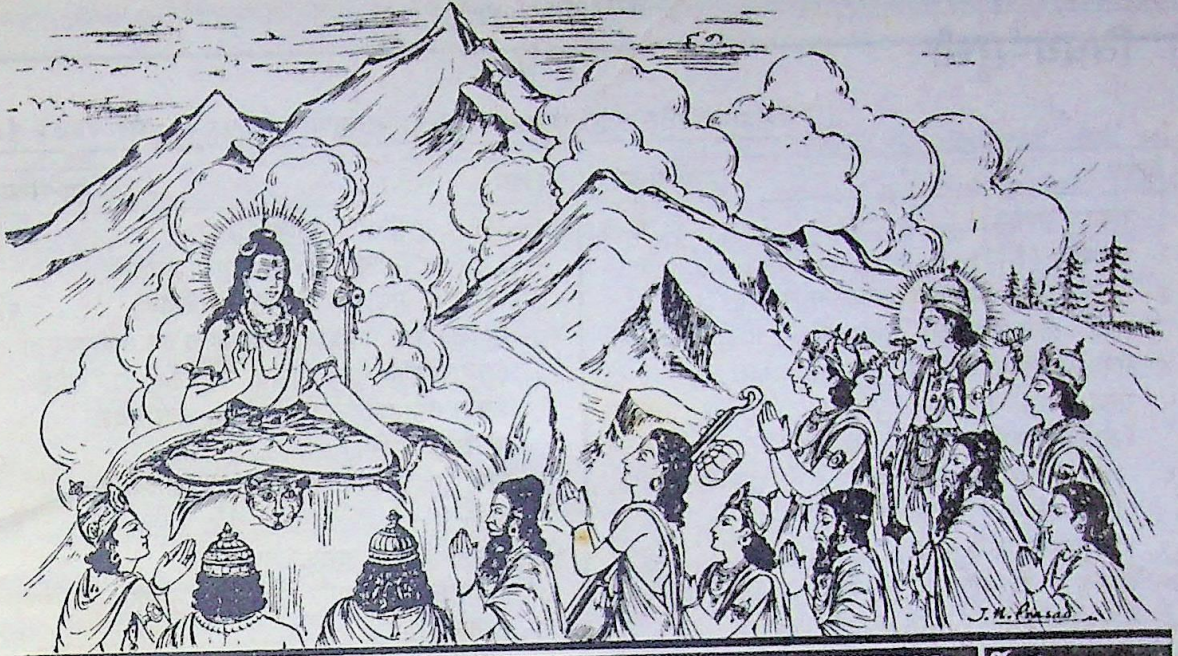
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

वर्ष ७६

गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, मई २००२ ई०

संख्या ५

पूर्ण संख्या ९०६

सुदामा-सत्कार

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः। प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम्। उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः। व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा। अर्चित्वाऽऽवेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत्॥
कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम्। देवी पर्यचरत् साक्षाच्चामरव्यजनेन वै॥

(श्रीमद्भा० १०। ८०। १९—२३)

[श्रीशुकदेवजी परीक्षित्‌जीसे कहते हैं—] परमानन्दस्वरूप भगवान् अपने प्यारे सखा ब्राह्मणदेवता (सुदामाजी)-के अङ्ग-स्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुए। उनके कमलके समान कोमल नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बरसने लगे। कुछ समयके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ले जाकर अपने पलंगपर बैठा दिया और स्वयं पूजनकी सामग्री लाकर उनकी पूजा की। भगवान् श्रीकृष्ण सभीको पवित्र करनेवाले हैं; फिर भी उन्होंने अपने हाथों ब्राह्मणदेवताके पाँव पखारकर उनका चरणोदक अपने सिरपर धारण किया और उनके शरीरमें चन्दन, अरगजा, केसर आदि दिव्य गन्धोंका लेपन किया। फिर उन्होंने बड़े आनन्दसे सुगन्धित धूप और दीपावलीसे अपने मित्रकी आरती उतारी। इस प्रकार पूजा करके पान एवं गाय देकर मधुर वचनोंसे 'भले पधारे' ऐसा कहकर उनका स्वागत किया। ब्राह्मणदेवता फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे। शरीर अत्यन्त मलिन और दुर्बल था। देहकी सारी नसें दिखायी पड़ती थीं। स्वयं भगवती रुक्मिणीजी चँवर डुलाकर उनकी सेवा करने लगीं।
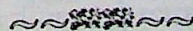
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, वि०सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, मई २००२ ई०

चित्र-सूची

वार्षिक शुल्क
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
भारतमें १२०० रु०
सजिल्द १३५० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$250 (Air Mail)
US$130 (Sea Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
visit us at: www.gitapress.org | e-mail: gitapres@ndf.vsnl.net.in

कल्याण

याद रखो—प्रकृतिके विस्तारका अन्त नहीं है और प्रकृतिका प्रत्येक पदार्थ, प्रकृतिकी प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण और अनित्य—फलतः परिणाममें दुःखप्रद है। वस्तुतः प्रकृतिके क्षेत्रमें कहीं भी, किसी भी स्थितिपर पहुँच जाइये, निरन्तर कमी मालूम होगी, अभावका अनुभव होगा। उस अभावको मिटाने जाइये—या तो उसके मिटनेके पहले ही आप मिट जाइयेगा अथवा कदाचित् वह मिटा भी तो दूसरा उससे भी बड़ा अभाव तुरंत उपस्थित हो जायगा, जो आपको नये दुःखोंमें डाल देगा। यथार्थतः सबसे बड़ा दुःख है—असंतोष और सबसे बड़ा सुख है—संतोष। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह प्रकृतिके क्षेत्रमें संतोष करे। महर्षि पतञ्जलिने अनुभूत सत्य बतलाया है—

'संतोषादनुत्तमसुखलाभः।' (योगदर्शन २।४२)

'संतोषसे सर्वश्रेष्ठ सुखकी प्राप्ति होती है।'

भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें भक्तके लक्षण बतलाते हुए एक प्रसङ्गमें दो बार संतोषकी चर्चा की है—

'संतुष्टः सततम्' (१२।१४)

'संतुष्टो येन केनचित्।' (१२।१९)

'निरन्तर प्रत्येक परिस्थितिमें संतुष्ट रहे' और 'जिस किसी प्रकारसे रहना पड़े, उसीमें संतुष्ट रहे।' इसका अभिप्राय यह है कि यदि संसारकी दृष्टिसे—भोगदृष्टिसे दुःख, अभाव, प्रतिकूलता, विपत्ति आदि हों तो उनमें भी भक्त संतुष्ट रहे।

याद रखो—जिसका मन संतुष्ट है, उसके लिये सर्वत्र सुख-सम्पत्ति भरी है, कहीं भी दुःख-विपत्ति नहीं है; वह हर हालतमें सुखी है, वैसे ही जैसे जिसके पैर जूतेसे ढके हैं, उसके लिये मानो सारी पृथ्वी चमड़ेसे ढकी है। संतोषरूपी अमृतसे तृप्त और शान्तचित्तवाले पुरुषोंको जो सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इधर-उधर दौड़-धूप करनेवालोंको कहाँ मिल सकता है!

याद रखो—संतोंकी इस अनुभवपूर्ण वाणी एवं शास्त्र-वचनोंके आधारपर हम अपनी स्थितिपर विचार करें तो हमें अनुभव होता है कि स्त्री, पुत्र, मकान, व्यापार, मान-इज्जत होनेपर भी हम दुःखी हैं; कारण, हमारे पास जितना, जो कुछ है, उससे हमको संतोष नहीं है अथवा दूसरोंके पास ये चीजें हमसे अधिक क्यों हैं—इसकी जलन हमारे हृदयमें है। इन दोनों विचारोंसे हम बेचैन हो जाते हैं तथा विवेक छोड़कर अधिक और अधिक प्राप्त करनेकी घुड़-दौड़में आगे बढ़ना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि और अधिक प्राप्त होनेके स्थानपर जो कुछ सम्पत्ति-कीर्ति हमारे पास रहती है, वह भी चली जाती है तथा हम नयी-नयी विपत्तियोंसे घिर जाते हैं। इस प्रकार हमारे अधिकांश दुःख, असंतोष और ईर्ष्या—दूसरोंके उत्कर्षको न सह सकनेकी दूषित वृत्तिसे हमारे मनद्वारा सृष्ट हैं। इन दोनों दुःखदायिनी वृत्तियोंसे छुटकारा पानेका सरल उपाय है—हम बार-बार उन करोड़ों-करोड़ों अपने ही सरीखे शरीर-मनवाले स्त्री-पुरुषोंकी स्थितिपर विचार करें, जो भाँति-भाँतिके अभावोंसे ग्रस्त हैं, विपन्न हैं—पूरा खाने-पहननेतकको नहीं पा रहे हैं। ऐसा करनेसे अभावग्रस्तोंके प्रति सहानुभूति उत्पन्न होगी और अपनी स्थितिके लिये भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता जाग्रत् होगी। अतएव सुख-कामी व्यक्तियोंको चाहिये कि वे अपनी स्थितिके लिये भगवान्‌के कृतज्ञ बनें और भगवान्‌की दी हुई स्थिति एवं सामग्रियोंसे यथायोग्य एवं यथासाध्य समाजके अभावग्रस्तोंकी सेवा-सहायता करें। संतोष, मुदिता और करुणावृत्ति मनमें आयी कि हम सुखी हो जायँगे।

याद रखो—संक्षेपमें, अपनी स्थितिपर संतोष करना, दूसरोंके उत्कर्षको देखकर मुदित होना और दुःखियोंको देखकर करुणापूर्ण होना—मानवका परम कर्तव्य है और है दुःखनाशका सर्वोत्तम उपाय। जो चाहे, वह इस सत्यको आचरणमें लाकर स्वयं अनुभव कर ले। —**'शिव'**

पापका मूल—आसक्ति*

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

पहली बात तो यह है कि मनुष्यको सदाके लिये ही पापसे बचना चाहिये, यहाँ तीर्थमें तो पाप करना ही नहीं चाहिये। लोग तीर्थोंमें आते हैं तो स्वाभाविक ही यहाँ आकर स्नान करते हैं, कुछ त्याग करके जाते हैं। आपसे यही प्रार्थना है कि ऐसी चीजका त्याग करें कि जिस एकके त्यागसे ही सबका त्याग हो जाय। कम-से-कम पापका त्याग तो कर ही देना चाहिये। पाप कामसे उत्पन्न होता है। अर्जुनने भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?

आसक्तिसे कामकी उत्पत्ति होती है, भगवान्‌ने उत्तर दिया—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।

आसक्तिका त्याग हो जानेसे सबका त्याग हो जाता है।

रामको बुलानेके लिये आरामको छोड़ना चाहिये, जहाँ आराम है, वहाँ राम नहीं। वास्तवमें आपलोग जो मानते हैं, वह तो झूठा आराम है। आराम तो दूसरा ही है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २४)

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।

हरेक बातमें आरामबुद्धि ही मुक्तिमें बाधा देती है। शौकीनी आफत है। ऐश प्रायः धनसे होता है, ऐशसे मनुष्य स्वस्थ होते हुए भी बीमार है। जो विषय-भोगोंमें रमता है वह अपने-आपको आगमें ढकेलता है। यह नियम लेना चाहिये कि भोजनमें जो कुछ भी तैयारी हुई, उसीमें आनन्द मान ले, राग-द्वेष नहीं करे; इसी प्रकार पहननेके लिये जो मिले, उसीमें आनन्द मान ले।

नील मीलका त्याग करना चाहिये, वस्त्र भी पवित्र, जूते भी पवित्र पहनने चाहिये। चमड़ोंमें हिंसा होती है, चूड़ी भी पवित्र पहननी चाहिये, लाखकी उत्पत्ति कीड़ोंसे होती है। वाणीको भी पवित्र बनाना चाहिये, वाणी पवित्र, सत्य और विनययुक्त होनी चाहिये—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।

ऐसा आचरण करनेवालेकी वाणीमें; फिर वह जो कुछ कहता है वही हो जाता है। **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'**। व्यवहार पवित्र होना चाहिये। इससे आत्मा पवित्र हो जाती है। सत्य व्यवहार करना चाहिये। दूसरेकी आत्मा मुग्ध हो जाय ऐसा व्यवहार करना चाहिये। दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। आरामबुद्धिके त्यागसे सब काम हो जाता है। झूठे आरामके त्यागसे सच्चा आराम मिलता है। यहाँ तीर्थपर व्रत, दान करना उत्तम है। पर यदि वह घरपर असत्य व्यवहार करता है तो ठीक नहीं है। यहाँ

* प्रवचन—तिथि वैशाख शुक्ल ३, संवत् १९९१, रात्रि, स्वर्गाश्रम।

आकर तो उत्तम आचरण सीखने चाहिये। फिर सदाके लिये उसे काममें लाना चाहिये, कम-से-कम असत्यको तो छोड़ ही देना चाहिये। यदि आपसे सदाचार उच्च श्रेणीका न हो सके, यदि उससे लाभ न उठा सकें तो कम-से-कम नुकसान तो नहीं उठाना चाहिये। *'आया था कुछ लाभको खोय चला सब मूल'*। घरमें रूठना नहीं चाहिये। क्रोध झूठ बुलाता है। सबसे उत्तम बात तो यह है कि क्रोधका त्याग कर दे। यह बड़ी भारी बुरी आदत है। इसे गङ्गाके पार ही छोड़ देना चाहिये था। आगेके लिये नियम कर ले कि भोजनके लिये या अन्य किसी बातके लिये रूठना नहीं है। जहाँ कलह है वहाँ क्लेश है, कलियुग है, काल है। किसी घरमें कलियुग हो तो उसको चरण पकड़कर धक्का देकर फेंक दे। इसके लिये उपाय मौन है। रूठकर नहीं बैठना चाहिये। हँसकर रह जाय या उसको उत्तर थोड़े शब्दोंमें शान्तिसे दे। शिक्षा मानकर हँसना चाहिये, मृदु शब्दोंमें बोलना चाहिये।

क्रोध साक्षात् आग है। अग्नि बाहर जलाती है और क्रोध बहुत घरोंको अंदर-ही-अंदर जलाता है। उपाय यही है कि आग लगे तो पानीसे तर कर दो। भीतरके घरमें जब क्रोध आता है तो हृदय जलता है, फिर कठोर वचन निकलते हैं, वे कठोर वचन जिसे कहे जाते हैं, उसमें प्रवेश करते हैं और वहाँ आग लग जाती है और वहाँ खड़े रहनेवालोंके कर्णमें प्रवेश करके और बढ़ जाती है। क्रोध आग है, हृदय घर है, पतङ्ग है। कठोर वचन जहाँ जाकर गिरते हैं, वहीं आग लग जाती है। क्रोधरूपी आगको बुझानेके लिये शान्ति जल है। चाहे कोई कैसा ही कहे, अपना भाव ठण्डा शीतल बनाना चाहिये। प्रभुकी भक्ति, ध्यान, शरण लेनेसे शान्ति मिलती है। प्रभु ही बचा सकते हैं। उन्हींको पुकार लगानी चाहिये। जब आग लगती है तब भी हम पुकारते हैं। लोग आकर आग बुझाते हैं। ज़ब क्रोध पैदा हो, तब प्रभुको याद करना चाहिये। मृत्युको नजदीक देखना चाहिये तथा समयको अमूल्य समझना चाहिये। अपना समय अमूल्य कार्यमें ही बिताना चाहिये। उत्तम उपदेशसे आगको शान्त करना चाहिये, क्रोध उत्पन्न ही न हो, हो जाय तो शान्त कर देना चाहिये। यह नियम लेना चाहिये कि आजसे कठोर वचन और कलह नहीं करेंगे। इससे क्रोध भी नहीं आ सकता, प्रेम इसके लिये जल है। जलसे पहले ही तृप्त हो जाय तो फिर क्रोध आये ही नहीं। यह नियम लेता जाय कि हृदयमें क्रोध आये तो एक बार उपवास और बाहरमें आ जाय तो दो बार उपवास करेंगे या यह नियम ले कि बाहरमें आये तो उपवास और भीतरमें आये तो उसे शान्त करनेके लिये पश्चात्ताप करना और सावधान करना चाहिये। पर यह प्रकट नहीं होना चाहिये कि आज क्रोध आनेके कारण उपवास किया है, यदि प्रकट होनेका भय हो तो उपवास दूसरे, तीसरे दिन कर ले। दृष्टिदोषके लिये उपवास करनेका नियम कर लेना चाहिये। स्त्रियोंको पुरुषोंको जानकर नहीं देखना चाहिये। भूलसे दृष्टि चली जाय तो दृष्टि हटा लेनी चाहिये।

सत्यवचन आधीनता, परतिय मातु समान।
इतनेमें हरि ना मिलें, तुलसीदास जमान॥

तीन बातोंकी शरणसे यदि कल्याण न हो तो तुलसीदासजीकी गारंटी है।

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
(रा०च०मा० ३।५।१२)

उत्तमके हृदयमें पति ही बसता है। स्वप्नमें भी दूसरे पुरुषकी भावना ही नहीं होती।

मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
(रा०च०मा० ३।५।१३)

जिसकी दृष्टि पिता, भाईकी तरह ही जाती है, समझकर लौटा लेती है। स्वभावसे यदि दृष्टि चली जाय और एक क्षण भी ठहर जाय तो एक समय उपवास करना चाहिये। यह एक नियम ले ले कि अपने मुखसे झूठे, असत्य, अश्लील शब्द नहीं कहेंगे। कठोर नहीं कहेंगे। झूठ या अश्लील बोला जाय तो एक समय उपवास करे। इन तीन बातोंके लिये नियम ले ले। क्रोध आये या दृष्टिदोष हो अथवा अश्लील बात कही जाय तो एक समयका उपवास करेंगे। प्रत्यक्ष मालूम हो सकता है कि सुधार हुआ कि नहीं। सबके लिये ही यह बात समझनी चाहिये। इस

पुरुषोत्तम मासमें एक महीने इस प्रकार करके देखो तो सही, इस प्रकार चेष्टा करनेपर क्रोधादि निकट ही नहीं आयेंगे। उपवासका भय लगेगा। इस प्रकारसे वृत्तियाँ पवित्र होती हैं। असली सुधार वैराग्यसे, रागके नाशसे हो जाता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।

सारे अनर्थोंका मूल आसक्ति है। तीर्थमें स्नान करे तो यह भावना करे कि पाप नष्ट होते हैं, विश्वास करे। उत्तम व्यवहार करना चाहिये। एक ही बात जिससे सारा व्यवहार, बर्ताव सुधर जायगा। उसको काममें ला सको तो उस एकसे ही काम बन जायगा। वह बात है स्वार्थको छोड़कर सबकी सेवा करना, दूसरोंकी आत्माको सुख पहुँचाना। लोभमें ही पाप है। लोभके कारण ही काम बिगड़ता है। लड़ाई भी इसीसे होती है। इस लोभके त्यागसे ही सब काम हो जायगा। सोने, खाने, पीने सबमें स्वार्थ ही विराजमान हो रहा है। उस स्वार्थको हाथ पकड़कर निकाल दो, फिर शान्ति, सरलता—सब गुण आ जायँगे, नवीन जीवन-संचार हो जायगा। आचरणोंमें सत्यभाषण है, सद्गुणोंमें त्याग है, बर्तावमें त्याग ही बर्ताव सुधारनेका उपाय है। संयममें भी त्याग ही प्रधान है और वही त्याग यदि विवेक, वैराग्यपूर्वक हो तो फिर कहना ही क्या है। नारायणका नाम लेनेसे बुरे आचरणोंका, सब दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। परमेश्वरके नामकी स्मृतिसे सब दोष नष्ट हो जाते हैं। माला तो फेरते ही हैं। उसका प्रभाव समझना चाहिये, एक बारके भी भगवन्नामोच्चारणसे सब पापोंका नाश हो जाता है। यह लाभ प्रभाव जाननेसे ही होता है। इस प्रकार भावना, विश्वास करके नाम ले, भजन करे, विश्वास करे कि मैं भजन करता हूँ, इसलिये मेरेसे बुरे कर्म हो ही नहीं सकते, इस प्रकार नित्य याद करे। आजसे यह भी नियम ले ले कि प्रभुके भजन करनेसे पाप नहीं आ सकते, नहीं आ सकते, यह विश्वास कर लेना चाहिये। यदि आते हैं तो हम वह भजन ढोंगसे, बड़ाईके लिये करते होंगे, अन्यथा तो पाप नष्ट होने ही चाहिये। एक भगवन्नामोच्चारणसे त्रिलोकीका राज्य भी नीचा है, वह त्रिलोकीका राज्य भी झूठा है, भगवन्नाम ही सत्य है। जो भगवान्‌को उत्तम समझता है, वह फिर उसीको भजता है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

भगवान्‌से बढ़कर उसकी समझमें कोई चीज ही नहीं तो फिर वह दूसरेको क्यों भजेगा। पत्थरकी, ताँबेकी लोहेकी, सोनेकी, चाँदीकी खानें हैं तो हम सबसे कीमती चीजको ही उठाना चाहेंगे। भगवन्नामके महत्त्वको समझनेवालेके लिये भगवान्‌के नामसे बढ़कर कोई चीज नहीं रह जाती। भगवन्नामका महत्त्व समझना चाहिये। फिर हमारेमें अवगुण नहीं ठहर सकते, दुर्व्यवहार नहीं हो सकता।

खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥

(रा०च०मा० ७। १२०। ६)

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि हमारेमें दुर्गुण हैं तो हमारेमें भक्ति ही नहीं है। इसलिये निश्चय करना चाहिये कि आजसे दोष नहीं हो सकेगा। यदि दोष आता है तो निश्चयमें कमी है। भगवन्नामका जप, स्वरूपका चिन्तन, गुणोंका गायन करनेसे उसके नजदीक दोष आ ही नहीं सकते। इसके लिये यथाशक्ति प्रयास करना चाहिये, यही प्रार्थना है।

मैत्री-भावनाका अभ्यास

मैत्री-भावनाका अभ्यास मनुष्यकी द्वेषात्मक मनोवृत्तिके संस्कारोंका विनाशक है। इसके द्वारा मनुष्यको मानसिक और शारीरिक—दोनों प्रकारका स्वास्थ्य-लाभ होता है। मैत्री-भावनाके अभ्यासके ग्यारह लाभ बौद्धग्रन्थोंमें बताये गये हैं। उनमेंसे मुख्य लाभ सुखकी नींद सोना और प्रसन्नचित्त रहना तथा सभीका प्रिय होना है। हम जैसे विचार दूसरे लोगोंके पास भेजते हैं, दूसरे लोग भी वैसे ही विचार हमारे पास अनायास भेजते हैं। मैत्री-भावनासे प्रेरित होकर जो विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजे जाते हैं, वे उसका अवश्य लाभ करते हैं। ऐसे विचार हमारा लाभ भी करते हैं। यदि हम दूसरे लोगोंको हृदयसे प्यार करते हैं तो दूसरे लोग भी हमें हृदयसे प्यार करने लगते हैं। मनुष्यके मनके आन्तरिक भाव किसी-न-किसी प्रकार प्रकाशित हो जाते हैं। अप्रकाशित होनेकी अवस्थामें भी वे हमारे अनुकूल अथवा प्रतिकूल सृष्टिका निर्माण करते हैं।

मैत्री-भावनाके अभ्यासके कई प्रकार हैं। जब किसी व्यक्तिके विषयमें चर्चा की जाय, तब उसके विषयमें उदार विचार ही प्रकट किये जायँ। किसी व्यक्तिके विषयमें हमारे आन्तरिक विचार उसके विचारों और आचरणको प्रभावित करते हैं! अतएव किसी व्यक्तिकी अनुपस्थितिमें प्रकाशित किये गये विचारोंको व्यर्थ न समझना चाहिये। ऐसे विचार भी उसके आचरणको प्रभावित करते हैं—चाहे वे प्रकाशितरूपसे उसतक पहुँचें अथवा नहीं। हम दूसरे व्यक्तियोंके विषयमें जैसी चर्चा करते हैं, दूसरे लोग भी उसी प्रकारकी चर्चा हमारे विषयमें करने लगते हैं। दूसरेकी निन्दा करना अमैत्री-भावनाका अभ्यास है। यह एक प्रकारकी हिंसा है। अतएव निन्दाको पाप माना गया है। जितना नुकसान किसी मनुष्यका उसका धन चुराकर किया जा सकता है, उससे कहीं अधिक नुकसान उसकी निन्दासे होता है। कितने रोजगारियोंका रोजगार उनके नामपर ही चलता है। उनकी किसी प्रकार निन्दा करना उन्हें आर्थिक हानि पहुँचाना है। इसी प्रकार समाजके कार्यकर्ताओंकी काममें सफलता उनकी ख्यातिपर निर्भर करती है। अतएव किसी व्यक्तिकी निन्दा सुनने अथवा करनेमें भाग न लेना और उसके विषयमें कुछ भली ही चर्चा करना मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक रूप है।

मैत्री-भावनाके अभ्यासका सामान्य रूप सबके प्रति शुभ कामना करना है। जिस व्यक्तिके प्रति हमारे मनमें द्वेष-भावना है, उसके प्रति विशेषरूपसे शुभ कामना करना उचित है। अपने मित्रके प्रति सभी लोग शुभ कामना करते हैं, पर अपने शत्रुके प्रति विरला ही व्यक्ति शुभ कामना करता है। मनुष्यकी दूसरे लोगोंसे शत्रुता अथवा मित्रता उसकी स्वार्थ-सिद्धिपर निर्भर करती है। जो हमारे स्वार्थमें साधक होते हैं, उन्हें हम मित्रके रूपमें देखते हैं और जिन लोगोंसे हमारे स्वार्थमें बाधा प्रतीत होती है, उन्हें हम शत्रुरूपमें देखते हैं। यदि हम अपने स्वार्थको अलग करके किसी व्यक्तिकी ओर देखें तो हम उसे न शत्रु पायेंगे और न मित्र। ऐसे व्यक्तिके प्रति भी हमें मैत्री-भावनाका अभ्यास करना चाहिये।

मैत्री-भावनाका अभ्यास सोते समय करना सर्वोत्तम है। सोते समयके विचार मनुष्यके आन्तरिक मनको प्रभावित करते हैं। उनसे उसके स्वभावका परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकारके अभ्याससे उन गुणोंका चरित्रमें आविर्भाव होता है, जिनका अन्यथा आना असम्भव दिखायी देता है। सोते समयके मैत्री-भावनाके विचारोंसे ही मनुष्यके स्वास्थ्यमें सुधार होता है। अभद्र कल्पनाओंका विनाश भी इसी प्रकार होता है।

मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक रूप अपनी सहायताकी आशा रखनेवाले व्यक्तिकी सहायता करना है। संसारमें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं, जिन्हें हमारी सहायता अथवा सेवाकी आवश्यकता है। इनकी सहायता और सेवा करना हमारा धर्म है। जो व्यक्ति संसारके कल्याणकी भावना मनमें लाते हैं, पर अपनी थैलीसे एक भी पैसा गरीब, दीन-दु:खियोंकी सहायताके लिये नहीं निकालते, वे अपने प्रति सच्चे नहीं हैं। ऐसे व्यक्तियोंके सद्भाव निकम्मे होते हैं। त्याग ही हमारे भावोंकी सचाईकी कसौटी है। यदि हम मैत्री-भावनाको सच्चा मानते हैं तो उसके अनुसार हमें अपना आचरण भी बनाना होगा। मनुष्यका जैसा आचरण होता है, उसके आन्तरिक विचार भी वैसे ही होते हैं। जिस प्रकार विचारोंका प्रभाव आचरणपर पड़ता है, इसी तरह आचरणका प्रभाव भी विचारोंपर पड़ता है। आचरण और विचार एक-दूसरेके सापेक्ष हैं।

मनुष्य दूसरे लोगोंकी सहायता धनसे अथवा शारीरिक सेवासे कर सकता है। बीमारकी सेवा करना मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक रूप है। बुद्धभगवान्‌ने कहा है कि जो बीमारकी सेवा करता है, वह मेरी ही सेवा करता है। रोगी व्यक्तिकी सेवासे एक ओर रोगी व्यक्तिका मानसिक लाभ होता है और दूसरी ओर सेवा करनेवालेका भी मानसिक लाभ होता है। जिस व्यक्तिको किसी प्रकारकी बीमारी है, वह उसी प्रकारकी बीमारीसे पीड़ित जब किसी दूसरे व्यक्तिकी सेवा करने लगता है, तब अपनी बीमारीसे मुक्त होने लगता है।

कितने ही लोग सदा अपने-आपके विषयमें चिन्तित रहते हैं। वे जितना ही अधिक अपनी स्थितिको सुधारनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी स्थिति उतनी ही और भी बिगड़ती जाती है। ऐसे व्यक्ति यदि अपने विषयमें चिन्ता करना छोड़कर किसी दूसरे व्यक्तिकी दयनीय दशाको सुधारनेमें लग जायँ तो वे अपनी दयनीय अवस्थासे भी मुक्त हो सकते हैं। विचार करनेसे ही हमारे दुःख बढ़ते हैं। उनपर विचार न करनेसे बहुत-से दुःख अपने-आप ही शान्त हो जाते हैं। जिस व्यक्तिको दूसरोंके दुःखोंके विषयमें सोचनेसे फुरसत नहीं मिलती, उसे अपने दुःख दुःखरूप ही नहीं दिखायी देते। वे जीवनकी प्रयोगशालाके एक अङ्ग बन जाते हैं। वह इन दुःखोंसे आनन्दकी ही प्राप्ति करता है।

मैत्री-भावनाके अभ्यासका एक परिष्कृत रूप सद्विचारोंका निर्माण है। संसारमें सद्विचारोंके अभावमें कितने ही लोग दुःखी हैं। यदि उनके विचारोंमें परिवर्तन हो जाय तो उनके दुःखोंका अन्त हो जाय। हमारे सद्विचार उन्हीं लोगोंका सबसे अधिक लाभ करते हैं, जो हमें जानते हैं और जो सदा हमारे सम्पर्कमें आते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी मानसिक उलझनमें पड़ जाता है, तब उसे सहायता देना हमारा धर्म होता है। इस प्रकारकी सहायतासे उसमें उत्साहकी वृद्धि हो जाती है और उसके हृदयमें आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है। सच्चे मनसे जो व्यक्ति दूसरोंकी सहायता करना चाहता है, उसे सहायता करनेका मार्ग भी मिल जाता है। निराशायुक्त लोगोंको सद्विचारद्वारा सहायता देना और उनके मनमें नयी आशाका सञ्चार करना समाजकी सबसे बड़ी सेवा है। आशावादी मनुष्य ही संसारका कोई कल्याण कर सकता है। कितने ही लोगोंको पत्र लिखकर, कितनोंको बातचीतके द्वारा और कितनोंको लेखों और पुस्तकोंके द्वारा अपने विचारोंसे लाभ पहुँचाया जा सकता है। ये मैत्री-भावनाके अभ्यासके कुछ प्रकार हैं।

राखो आरत लाज हरी

राखो आरत लाज हरी।
दुखसागरमें पड़ी है नैया, तुम बिन कब उबरी॥
काम, क्रोध, मद, लोभ सतावें, बारहि बार विषय-सुख भावें।
हारो मैं तो चौरासीसे, भारी विपत परी।
राखो आरत लाज हरी॥

बिरद तुम्हारी जग उजियारी, भगत बछल प्रभु जनहितकारी।
दीनानाथ दया करो मोपे, मोरी सब बिगरी।
राखो आरत लाज हरी॥

दया करो हे जानकिनाथा, भजन करूँ तुम्हरो दिन राता।
चाकर जान सम्हारो स्वामी, मोपे कठिन घरी।
राखो आरत लाज हरी॥

गुन-अवगुन देखो न जाता, अरज करूँ सुनो मोरी बाता।
कहे 'बेताब' सरन परो तेरी, जुगल किसोर हरी।
राखो आरत लाज हरी॥

(श्रीबेताब केवलारवी)

साधनकी उपयोगी बातें

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

समस्त विश्वमें चराचर रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌के पावन चरण-कमलोंमें सभक्ति नमस्कार।

मनुष्यको सहज ही जैसा दूसरोंको उपदेश देनेमें सुख मिलता है, वैसा कोई उपदेश लेनेमें नहीं मिलता। यदि उपदेश देनेवाले लोग अपने उपदेशको स्वयं पहले ग्रहण करने लगें तो फिर बहुत उपदेशोंकी आवश्यकता न रहे। उपदेश जबतक क्रियामें नहीं आते, जीवनमें नहीं उतर आते; तबतक चाहे वे किताबोंमें रहें, चाहे वाणीके शब्दोंमें रहें, उनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। थोड़ी बात भी जीवनमें उतर जाय तो बहुत सुननेकी और कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

अच्छी चीजका कहना-सुनना अच्छा है। यदि अशुभके कहने-सुननेमें मन न लगे और अच्छा कहने-सुननेके लिये मन लगता रहे अथवा बुरेके लिये अवकाश न मिले, अच्छेसे फुरसत न मिले तो इसमें लाभकी बात तो अवश्य है; परंतु वास्तविक लाभ तबतक नहीं है, जबतक जीवनमें वह चीज उतर न जाय। इसलिये प्राचीन कालकी गुरु-परम्परामें उपदेशोंकी विशेष आवश्यकता नहीं थी। गुरुने उसके लायक चुपकेसे एक साधन बता दिया और वह शिष्य अपने साधनपर संलग्न हो गया। उसको करनेमें तत्पर हो गया। राह चलने लगा। चलेगा तो वह पहुँच जायगा, पर जो चलेगा नहीं केवल बात करेगा, बात सुनेगा तो जैसे बिना खाये पेट नहीं भरता इसी प्रकार बिना किये कोई सफलता नहीं मिलती। इस प्रकार साधनकी सफलताके लिये साधन करना आवश्यक है।

तो हम जो कुछ भी अच्छी बात सुनें, समझें, कहें—वह बात हमारे जीवनमें उतर जानी चाहिये।

युधिष्ठिर छोटे बच्चे थे तो पाठशालामें पढ़ते थे। गुरुजीने कहा कि देखो, कोई मार भी दे तो गुस्सा न आये यह बात सीख लो। विद्यार्थियोंसे पूछा—क्यों सीख लिया? तो वे बोले—हाँ, सीख लिया कि कोई मार भी दे तो गुस्सा न आये। यह सीख लिया। दस-पाँच दिनतक पूछते रहे कि सबने सीख लिया? तो युधिष्ठिर रोज कहते रहे कि नहीं सीखा। दो-तीन सप्ताहके बाद युधिष्ठिरसे फिर पूछा—क्यों सीख लिया? तो वे बोले नहीं सीखा तो गुरुजीको गुस्सा आ गया। छोटी-सी बात सब तो सीख गये और यह नहीं सीख पाया। गुरुजीने गुस्सेमें आकर दो-चार बेंत लगा दी। बोले—अब सीख लिया? उन्होंने कहा कि हाँ, अब सीख गया। बोले—बेंत लगाया तब सीखा, वैसे नहीं सीखा। इसपर युधिष्ठिर बोले—गुरुजी! बात यही है। आपने कहा था कि कोई मारे तो गुस्सा नहीं आये। आजतक तो किसीने मारा नहीं, फिर गुस्सा आनेकी परीक्षा कैसे होती? सीखता कैसे? आज आपके मारनेपर मैंने अपने मनमें देखा तब पता लगा कि गुस्सा नहीं आया। तो आज सीख गया, बस, इसी प्रकारसे जीवनमें बात उतर जानी चाहिये।

हम रोज-रोज एक ही बात बहुत सुनते हैं, बहुत कहते भी हैं; क्योंकि नयी बात आयेगी कहाँसे? उन्हीं बातोंको घुमा-फिराकर हजार बार भले ही कह दें। कहनेका नया तरीका भले ही अपना लें, बातें तो वही रहेंगी। 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है' इस बातको हजार बार कह दें, चाहे किसी रूपमें कह दें। 'सर्वत्र भगवान्-ही-भगवान् हैं'—इसे किसी रूपमें कह दें। 'भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये'—इसे किसी रूपमें कह दें। बात तो इतनी ही है। इन्हीं बातोंका विस्तार अनेक रूपोंमें हो सकता है। परंतु इन बातोंको अपने जीवनमें उतारनेके लिये युक्तिवादकी जरूरत नहीं होती।

महाभारतमें एक घटना आती है कि एक बार किसी ब्राह्मणकी गौएँ डाकूलोग चुरा ले गये। रातका समय था। ब्राह्मणने आकर पुकार की कि मेरी गाय डाकू ले गये। अर्जुनने पुकार सुनी। अर्जुनके धनुष-बाण अन्तःपुरमें रखे थे और अन्तःपुरमें उस दिन युधिष्ठिर

महाराज थे। द्रौपदीके पाँच पति थे। भगवान् व्यासने यह नियम बनाया था कि जो भाई अन्तःपुरमें रहे उसके अतिरिक्त दूसरा भाई उन दिनों अन्तःपुरमें न जाय, अगर चला जाय तो उसको बारह वर्षका देश-निकाला हो। अर्जुनने सोचा कि अब सामने दो बातें हैं। एक ओर बारह वर्षका देश-निकाला है और दूसरी ओर है राजधर्मका पालन—ब्राह्मणकी गायोंको बचाकर लाना। उन्होंने पहली बातको स्वीकार किया। नीची नजर किये अन्तःपुरमें गये। वहाँसे धनुष-बाण लिया और गायोंको छुड़ाकर ले आये। ब्राह्मणके गायोंकी रक्षा हो गयी।

युधिष्ठिरको यह घटना मालूम नहीं थी; क्योंकि वे सो रहे थे। दूसरे दिन अर्जुनने सभामें आकर बड़े भाई युधिष्ठिरजीसे कहा—महाराज! मुझे बारह वर्षका देश-निकाला मिलना चाहिये। युधिष्ठिरने कहा—कैसे? तुमने क्या कसूर किया? अपराध क्या हुआ? तो बोले—अपराध यह हुआ कि मैं रातको नियम-भंग करके अन्तःपुरमें गया था; क्योंकि वहाँसे धनुष-बाण निकालने थे और ब्राह्मणके गौओंकी रक्षा करनी थी। इसपर धर्मराजने कहा—इसमें तो कोई ऐसी बात हुई नहीं। प्रथम तो मैं बड़ा भाई और बड़े भाईके घरमें जाना कोई दोष नहीं तथा दूसरी बात तुम मेरी धर्मरक्षाके लिये गये थे। गायोंकी रक्षा करनी थी, तुमने अच्छा काम किया। तुम्हारा कोई दोष नहीं। धर्मराजकी इस बातको सुनकर अर्जुनने कहा कि महाराज! मैंने आपसे यही सीखा है कि किसी बहानेसे धर्मका लोप न करो। किसी युक्तिवादसे कोई युक्ति लगाकर बहाना बनाकर अपने दोषका समर्थन न करो। मैं युक्तिवादसे दोषका समर्थन करना नहीं चाहता। इस घटनाका तात्पर्य यही है कि जो धर्मसंगत बात हो वह जीवनमें उतर जाय। जबतक जीवनमें साधना नहीं उतरती, जबतक जीवनमें उपदेशकी बात नहीं उतरती, तबतक उपदेशकका उपदेश व्यर्थ होता है।

उपदेशकमें चार प्रधान बातें होनी चाहिये। वह जिस सिद्धान्तको कहता हो वह सिद्धान्त सच्चा हो, एक बात। दूसरी बात उस सिद्धान्तका वह स्वयं माननेवाला हो। एक घटना बतायी जाती है—एक दिन एक सज्जन हमारे पास आये। संन्यासी थे, बड़े विद्वान् थे। उन्होंने कहा कि बोलिये किस विषयपर कहना है। ईश्वरका खण्डन करें कि मण्डन। आप जो कहें सो कर देंगे, हमारे पास विद्या है। विद्यासे खण्डन भी कर देंगे, मण्डन भी कर देंगे। हमने कहा सिद्धान्त कौन-सा है? बोले—सिद्धान्त कोई नहीं। सिद्धान्त हमारी विद्या है। तो यह बात ठीक नहीं। जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करे, वह सिद्धान्त वास्तवमें सत्य हो। दूसरी बात, वह स्वयं उस सिद्धान्तको माननेवाला हो।

तीसरी बात है कि केवल माननेवाला ही न हो, उस बातका पालन करनेवाला भी हो और चौथी बात है—उस उपदेशमें—सिद्धान्तके वर्णनमें किसी प्रकारका—मान, धन इत्यादिका स्वार्थ न हो। ये चारों बातें उपदेशकमें होनी चाहिये तब उसका उपदेश अपने-आप ग्रहीत होता है। उसे देखकर लोग उसकी बात मान लेते हैं। उपदेश पेशा नहीं होता। आजकल तो उपदेशका प्रवाह बह रहा है, उपदेशकी नदी बह रही है, नदी ही तो है, कभी कैसा पानी, कभी कैसा पानी और उसमें यह चीज भी है कि कभी कोई बड़ा महात्मा भी बोले और कोई कलाकार भी बोले। सदाचारी भी बोले, असदाचारी भी बोले। बोलना आना चाहिये। बोलनेकी कला होनी चाहिये, फिर बोलनेवाला कोई हो और जिसके पास कला न हो और महात्मा हो तो उसकी बात कोई सुनना नहीं चाहता; क्योंकि हमलोग तो कला देखते हैं। पहले हमने देखा यहाँ इन झाड़ियोंमें एक महात्मा रहते थे, उनसे कोई व्याख्यान दिलवाये तो उनको तो बोलना नहीं आता, पर उनके एक-एक शब्दमें उनके जीवनका अनुभव भरा रहता। उनके एक-एक शब्दमें तत्त्व भरा रहता।

जहाँ हम केवल बोलते हैं और कहते रहें वहाँ हमारा बोलना एक नाट्य होता है। जैसे नाटकमें कोई शंकराचार्यका अभिनय करे तो वह शंकराचार्य नहीं हो जाता, उसी प्रकारसे यदि हम केवल बोलना जानते हैं, करना नहीं जानते तथा वैसा बनना नहीं जानते तो

हमारा बोलना एक कला हो सकता है, हमारा बोलना लोक रिझानेकी चीज हो सकती है, हमारा बोलना हमारी बोलनेकी वासनाकी पूर्ति हो सकती है, जैसे— प्यास होती है, वैसे ही बोलनेकी वासना भी होती है। वासनाकी पूर्ति भले हो जाय या उससे हमारी किसी लौकिक कामनाकी पूर्ति हो जाय अथवा कौतूहलके लिये उक्ति हो जाय या उस कलाका प्रदर्शन हो जाय, परंतु जबतक हमारे जीवनमें वह बात नहीं है तबतक हम वह बात बोलनेके अधिकारी नहीं हैं।

पहले हमारे यहाँ बड़ी सुन्दर चीज थी अधिकारी-भेद। किस विषयपर कौन-कौन बोलनेका अधिकारी है। यदि गुरुके पास शिष्य जाता तो गुरु शिष्यको देखते कि शिष्य अधिकारी है कि नहीं, इसी प्रकार गुरु अगर उस विषयके अधिकारी नहीं होते तो वह कह देते कि भई, इस विषयको मैं नहीं जानता। तुम अमुक ऋषिके पास जाओ, अमुक महात्माके पास जाओ, वह तुम्हें इसका उपदेश देंगे। इस प्रकार बता देते, स्वयं अपनेको अधिकारी नहीं मानते। तब सुननेवाला और कहनेवाला एक ही बातमें कह देता और एक ही बातमें सुननेवालेका काम भी बन जाता। आज हम पचास बात सुनते रहें और एक भी बात धारण न करें तो काम नहीं बनता। पहले कहने और सुननेके अधिकारी होते थे। बिना अधिकारीके काम नहीं बनता, कम-से-कम इस साधनाके क्षेत्रमें—परमार्थ-साधनाके क्षेत्रमें तो अधिकारी-भेदकी बड़ी आवश्यकता होती है। किस प्रकारका कौन अधिकारी है। नाम-संकीर्तन यह सबके अधिकारकी चीज है, परंतु नाम-संकीर्तनमें भी जहाँ परम प्रेमका उद्भव होता है, वहाँ अधिकार आ जाता है।

चैतन्य महाप्रभुके विषयमें आता है कि श्रीवासके घरमें उनका अन्तरंग कीर्तन होता था। कीर्तन एक तो सामूहिकरूपसे बाहर होता है और एक अन्तरंग कीर्तन होता है, जिसमें प्रेमीगण प्रेमरसमें उन्मत्त होकर झूमते हुए अपने-आपको भूलकर कीर्तनमें मस्त हो जाते हैं, ऐसा ही कीर्तन था महाप्रभुजीका। एक दिन एक कीर्तन-विरोधी मनुष्य उनके घरमें घुस गया और जाकर तख्तेके नीचे छिप गया। उस दिन कीर्तनमें वैसा प्रेमरसका उद्भव नहीं हुआ। तब महाप्रभु चैतन्यने कहा कि कोई विजातीय तत्त्व है यहाँपर। देखा गया तो तख्तेके नीचे एक आदमी लेटा हुआ था। पता लग गया कौन है? वही कीर्तनका विरोधी व्यक्ति वहाँ था। उस व्यक्तिको तो लाभ मिला कीर्तन-श्रवणका। उसकी बुद्धि सुधर गयी। लेकिन जबतक उसको बाहर नहीं किया गया तबतक प्रेमरस उत्पन्न नहीं हुआ।

साधना खेल नहीं है। एक आसन हो, एक स्थान हो, एक मन्त्र हो, एक गुरु हो, एक इष्ट हो, एक समय हो तो साधनाका इस प्रकारका एक वातावरण बन जाता है कि वहाँ जाते ही वह बात अपने-आप शुरू हो जाती है। वहाँके वायुमण्डलमें उस प्रकारके तत्त्व सब ओर इस प्रकार विस्तृत हो जाते हैं, पूर्ण हो जाते हैं कि दूसरे तत्त्वोंको वहाँ प्रवेश करनेका स्थान ही नहीं मिलता। पहले ये सब साधनाके तरीके थे। साधना बाजारकी चीज नहीं। साधना दूकानपर नहीं मिलती, बिकती नहीं। जबसे यह बिकने लगी और जबसे बाजारमें आयी तबसे साधना रही नहीं। सच्ची बात, कटु जरूर है पर यह है सत्य।

तो साधनामें क्या चीज है? चीज यही है कि साधनाको अपने जीवनमें उतार लेना। ऐसा ही बन जाना। महाराज खट्वाङ्गके दृष्टान्तमें आता है कि उन्होंने तो मुहूर्त (दो घड़ी)-मात्रमें भगवान्‌को पा लिया।* कितनी देर लगती है ब्रह्मकी प्राप्तिमें। कुछ भी देर नहीं लगती। जैसे घोड़ेपर सवार होकर कोई आदमी उसके पाँवड़ेमें पैर रखे, इतनी देरमें मिलन हो जाता है। कैसे हो जाता है? गुरुजीने बताया—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**—'यह सारा ब्रह्म है' बस, इस बातपर विश्वास कर लिया। विश्वास करते ही अनुभूति हो गयी। क्या देर लगी। केवल विश्वासकी बात है। **[क्रमशः]**

* मुहूर्तं प्राप्य जीवितम्। (विष्णु० ४।४।८२) मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं संदधे मनः॥ (श्रीमद्भा० ९।९।४२)
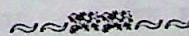
सत्सङ्ग

(श्रीशम्भुनाथजी चतुर्वेदी)

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

प्रत्येक मनुष्यकी यह आकाङ्क्षा होती है कि वह सदा सुखमें ही रहे, दुःख कभी न हो। यद्यपि सुख और दुःख दिनके बाद रातकी भाँति आते और जाते रहते हैं, परंतु दुःखका नाम सुनते ही प्राणिमात्र काँप उठते हैं। किस प्रकार अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त हो, इसी उद्देश्यसे मनुष्य एकके पश्चात् दूसरी ईप्सित वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है और उसे पानेका प्रयत्न करता है। जब ईप्सित वस्तु मिल जाती है, तब उससे भी उसकी संतुष्टि नहीं होती। उस समय नये अभाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी पूर्ति आवश्यक प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार आवश्यकताएँ प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं और वह उन्हींके चक्करमें फँसा रहता है। अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे तो यह बहुत ही अच्छी बात है; क्योंकि जितनी ही मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, उतने ही आविष्कार होते जायँगे और देश तथा समाजके उत्थानमें सहायक होंगे; परंतु इस प्रकारका सुख वास्तवमें सुख नहीं है और बारम्बार विषय-सुखकी प्राप्ति करनेवाले लोग भी सांसारिक झंझटोंसे ऊबकर वास्तविक सुखकी चाहना करते हैं। यह कैसे प्राप्त हो? इसका एकमात्र साधन है—**'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'**। वैराग्यरूपी शस्त्रसे वासनाकी जड़ काट देना। यह एकदम तो सम्भव है ही नहीं, इसके लिये शनैः-शनैः प्रयत्न करना होता है। सत्सङ्गकी इसीलिये आवश्यकता होती है; क्योंकि *'बिनु सतसंग बिबेक न होई'*। सत्सङ्ग क्या है और कैसे मिले—यह प्रश्न बड़ी गम्भीरतासे विचारणीय है। 'सत्' शब्दका प्रयोग दो प्रकारसे होता है—एक तो सद्भावमें और दूसरा साधुभावमें—**'सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते'**। (गीता १७। २६)

यहाँ पहले सद्भावको ही लीजिये। सत्सङ्गका अर्थ होता है—आसक्ति यानी सत्में आसक्ति। सत्की व्याख्या गीताके द्वितीय अध्यायके १६ वें श्लोकमें की गयी है—**'नाभावो विद्यते सतः'** अर्थात् सत्का कभी अभाव नहीं होता। ऐसी अव्यय अविनाशी सत्-वस्तु क्या है? उत्तर—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

अब प्रश्न यह होता है कि वह कौन-सी ऐसी सत्ता है जिसके द्वारा यह समस्त संसार व्याप्त है। श्रीभगवान्ने इसका उत्तर दिया है—**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'**—'मैंने ही अव्यक्तरूपसे इस समस्त जगत्को व्याप्त कर रखा है।' अव्यक्त-स्वरूपका वर्णन श्रुतिमें इस प्रकार दिया गया है—**'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**। इसके अनुसार जंगम, स्थावर सभी भूतोंमें परमात्मा ही व्याप्त है। कबीर साहबने कैसा सुन्दर कहा है—

साहिब तेरी साहिबी, सब घट रही समाय।
ज्यों मेंहदीके पातमें, लाली लखी न जाय॥

गीतामें श्रीभगवान्ने नाशरहित कूटस्थसे भी अतीत वस्तुको ब्रह्म कहा है यथा—**'अक्षरं परमं ब्रह्म'**। यही कूटस्थ अक्षर कहलाता है, जिसका कभी विनाश नहीं होता। इस अक्षरका स्वरूप भी अनिर्देश्य और अव्यक्त है। अव्यक्तके सम्बन्धमें ऊपर लिखा ही गया है। अब अनिर्देश्यके सम्बन्धमें—

नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥

तथा—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥

आकाशवत् सर्वव्यापी, मनके भी अगोचर, कूटस्थ—सबके मूलमें रहनेवाले अचल अक्षरका निर्देश 'कठोपनिषद्'में स्पष्ट कर दिया गया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(१। २। १५)

यहाँ ओंकारको ही नाशरहित कूटस्थसे परे परम वस्तु ब्रह्म कह दिया है। 'पद्मोद्भवसंहिता'में ओंकारको विष्णुवाचक, लक्ष्मीवाचक तथा जीववाचक कहा है—

अकारेणोच्यते विष्णुः सर्वलोकैकनायकः।
उकारेणोच्यते लक्ष्मीर्मकारो जीववाचकः॥

'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' में इसीका दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता॥
यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये॥

इस परम तत्त्वका नित्य सङ्ग अथवा इसकी प्राप्ति करानेवाले साधन या पदार्थका सङ्ग ही सत्सङ्ग है। इस सत्सङ्गकी बड़ी महिमा है।

यह तो हुआ निर्गुण अथवा निराकार ब्रह्मका निरूपण। इसमें जैसा श्रीभगवान्‌ने निज मुखसे गीतामें कहा है कि साधारण कोटिके उपासकको अधिक क्लेश है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(१२।५)

सगुणोपासना इससे सरलतर है। इसमें उपासक अपने भावानुसार किसी उपास्य देवताकी उपासना करता है। यदि किसी विशेष उद्देश्यकी पूर्ति-हेतु उपासना की जाती है तो देवता प्रसन्न होकर अभीष्टकी पूर्ति भी कर देता है। सगुणोपासनामें विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य तथा गणेश—इन पञ्चमूर्तियोंको ईश्वर-भावनासे पूजनेकी विधि है। देवता यदि प्रसन्न हो जाय तो अपने अन्तर्गत सब कुछ दे सकता है। इसमें कौन छोटा और कौन बड़ा—यह कहना नहीं बनता। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि देवताके स्वरूपोंमें भिन्नता होनेपर भी उपासना वस्तुतः एक ही सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की ही होती है। 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।'

भगवान् कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(गीता ९।२३)

निर्गुण ब्रह्म ही सगुण अथवा साकार रूपमें प्रकट होकर अपने भक्तोंके हितके लिये आवश्यकतानुसार लीला करके पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। अवतार भी अनेक हैं—जैसे मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह इत्यादि। परंतु इनमें मुख्य दो ही माने गये हैं, एक तो त्रेतामें श्रीरामावतार और दूसरा द्वापरमें श्रीकृष्णावतार। ये दोनों ही भगवान्‌के साक्षात् अवतार हैं। अवतारका कारण 'श्रीरामचरितमानस' में इस प्रकार बताया गया है—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥
(१।१२१)

'श्रीमद्भागवत' में भी कहा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
(१०।१४।५५)

'श्रीकृष्ण सबके आत्माओंके आत्मा—परमात्मा हैं। केवल जगत्-कल्याणके लिये योगमायाके आश्रयसे वे रूप-धारीकी तरह दीखते हैं।' यह भगवान्‌का शरीर भगवान्‌से अभिन्न और भगवत्स्वरूप है। यही श्रीभगवान्‌के अवतारकार्यके लिये दिव्य जन्म तथा दिव्य शरीर-धारणका रहस्य है।

निर्गुण ब्रह्म जब सगुणरूपमें व्यक्त हुआ, तब उसका नाम भी चाहिये; क्योंकि बिना नामके तो उसका बोध हो ही नहीं सकता—

रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥

यदि किसी व्यक्तिकी चर्चा की जाती है और वह उस स्थानपर उपस्थित नहीं होता तो नामसे उसका स्वरूप तुरंत सामने आ जाता है—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके नामकरणके अवसरपर उनके कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीने कहा—

इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥
जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

'नित्यानन्दलक्षणेऽस्मिन् योगिनो रमन्ति इति रामः।'

'नित्यानन्दस्वरूप चिदात्मामें योगिजन रमण करते हैं, इसलिये वे राम हैं।' अथवा—

'स्वेच्छया रमणीयं वपुर्वहन्वा दाशरथी रामः।'

अर्थात् अपनी ही इच्छासे रमणीय शरीर धारण करनेवाले दशरथनन्दन ही राम हैं।

अन्य अवतार तो अंशावतार हैं; किंतु वासुदेव तो सोलहों कलाओंसे पूर्ण अवतार हैं—

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

कृष्णका अर्थ है जो अपनी ओर आकर्षित कर ले

अथवा जो अपने भक्तोंके पापोंका कर्षण कर ले—

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं
गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम्।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं
चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि॥

इन्हीं सगुणरूप पूर्णकाम सच्चिदानन्दकी उपासना सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञानुष्ठान, द्वापरमें पूजनसे होती है और इनसे जो लाभ होता है, वही कलियुगमें श्रीकेशवके नाम-संकीर्तनसे हो जाता है—

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(वि० पु० ६। २। १७)

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'श्रीरामचरितमानस' में कहा है—

ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

× × ×

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

हरिवंशपुराणमें लिखा है—हे विप्रगण! आपलोगोंको सर्वदा सत्त्वगुणसम्पन्न होकर एकमात्र श्रीहरिका ही ध्यान करना चाहिये। आप सदा 'ॐ'का जप और श्रीकेशवका ध्यान करें।

हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वमास्थितैः॥
ओमित्येवं सदा विप्राः पठत ध्यात केशवम्॥

(भविष्यपर्व ८९। ८-९)

जैसे अनिच्छासे स्पर्श करनेपर भी अग्नि जला ही डालती है, वैसे ही श्रीहरिका यदि दुष्ट पुरुषोंसे भी स्मरण हो जाय तो वे उनके समस्त पापोंको हर लेते हैं—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

'श्रीतुलसीदासजी'ने कवितावलीमें लिखा है—

रामु बिहाइ 'मरा' जपतें बिगरी सुधरी कबिकोकिलहू की।
नामहि तें गजकी, गनिकाकी, अजामिलकी चलि गै चलचूकी॥
नामप्रताप बड़ें कुसमाज बजाइ रही पति पांडुबधूकी।
ताको भलो अजहूँ 'तुलसी' जेहि प्रीति-प्रतीति है आखर दूकी॥

(उ०का० ८९)

नामकी बड़ाई तो श्रीराम भी स्वयं नहीं कह सकते—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

इसीलिये तो—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

इस कोटिके भक्तोंमें ही शिवजी तथा उनके अंशावतार श्रीमङ्गलमूर्ति मारुतनन्दनजी, महामुनि नारद तथा उनके शिष्यद्वय ध्रुव एवं प्रह्लाद उल्लेखनीय हैं।

सीताहरणके पश्चात् जब श्रीराम-लक्ष्मण वनमें सीताजीको खोज रहे थे, शिवजी कुम्भज ऋषिके यहाँसे लौट रहे थे। मार्गमें इष्टदेव श्रीरामके दर्शन हुए। कुसमय जानकर जान-पहचान तो नहीं की, परंतु चुपचाप *'जय सच्चिदानंद जग पावन'* कहते हुए प्रणाम कर चले गये। सतीने जब शिवजीसे पूछा कि आप तो स्वयं ही जगद्वन्द्य हैं, आपने किसे प्रणाम किया, तब शिवजीने बताया। सतीजीको संतोष नहीं हुआ और वे उनकी परीक्षा लेने चलीं। उन्होंने सीताका कपट वेश बनाया; परंतु सर्वज्ञ भगवान् राम तुरंत पहचान गये और हाथ जोड़कर अपना नाम बताते हुए प्रणाम किया। इसी अपराधके कारण शिवजीने प्रण कर लिया कि अब इस सतीके शरीरसे प्रेम नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना भक्तिके पन्थमें अनीति होगी। सतीको जब यह ज्ञात हुआ, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे पिताके यज्ञमें शरीर त्यागकर पुनः पार्वतीरूपमें प्रकट हुईं। तब शिवजीने उन्हें अङ्गीकार किया। इन्हीं भगवान् रामको—

संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ग्यान गुन रासी॥

× × ×

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥

मङ्गलमूर्ति मारुतनन्दनजी तो शिवजीके अंशावतार ही थे और रामकाजके लिये ही अवतरित हुए थे। विभीषणजीको अपना परिचय देते हुए आप कहते हैं—

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

(रा०च०मा० ५। ७। ७-८, दोहा ७)

सीताजीकी खोजके लिये समुद्र पारकर लङ्का गये। भगवान् रामकी कुशल उनको सुनायी। तब माता सीताने आशीर्वाद दिया कि अष्टसिद्धि नौ निधि तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ी रहेंगी। लक्ष्मण-शक्तिके समय संजीवन-बूटी

लाकर उनको जीवनदान दिया। ऐसे जाने कितने उपकार किये। उसके फलस्वरूप श्रीरामको यही कहना पड़ा कि तुम मुझे भरतके समान ही प्रिय हो। बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

महाप्रयाणके समय इन्हीं आञ्जनेयको अपना प्रतिनिधि बनाकर भगवान्‌ने कहा—तुम गन्धमादनपर अमर होकर रहो और जो कोई आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी अथवा ज्ञानी भक्त आये, उसकी मनोकामना पूर्ण करते रहो। वे श्रीरामजीके इतने अनन्य भक्त थे कि हरेक वस्तुको, जिसमें राम नहीं, हेय समझते थे। यहाँतक कि अपने कलेजेको चीरकर दिखा दिया कि उसमें भी धनुष-बाणधारी श्रीराम सदा निवास करते हैं।

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥

भला, नारदजी नामका प्रभाव न जानेंगे तो और कौन जानेगा। नारदजी तो भगवान्‌के प्रधान अर्चक हैं ही और छः महीने जब बदरिकाश्रममें बर्फ जमी रहती है, वहाँ कोई नहीं रहता, तब यही नारदजी भगवान्‌की सेवा-अर्चा करते हैं। यहाँतक कि यह क्षेत्र 'नारदीयक्षेत्र' कहलाता है। रामावतारमें इन्होंने तो भगवान् श्रीरामसे यह वरदान माँगा था—

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ।
तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नायउ माथ॥

(रा०च०मा० ३। ४२। ७-८, दोहा ४२ (क, ख))

इसके अतिरिक्त भगवान्‌ने स्वयं ही तो नारदजीसे कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

इसीलिये तो नारदजी अपनी वीणाके तार झनकारते हुए सदा—

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।'

—की ध्वनि बिखेरते सानन्द विचरते फिरते हैं।

भगवान्‌का वचन है कि वेद, तपस्या, दान या यज्ञ किसी उपायसे भी उनका रूप देखा नहीं जा सकता। केवल अनन्य भक्तिके द्वारा ही भक्तगण उन्हें तत्त्वतः जान सकते हैं। भगवान् भुक्ति तथा मुक्ति तो सहजमें दे डालते हैं; लेकिन भक्ति देनेमें कुछ आनाकानी करते हैं। क्योंकि भक्ति देनेसे तो उन्हें भक्तके योगक्षेमका ही निरन्तर प्रबन्ध करना पड़ता है। परंतु भगवान्‌के भक्त मुक्तिको ठुकराते हैं। संसारके आवागमनसे मुक्त हो जानेपर भगवान्‌का नाम-स्मरण एवं यशोगान कैसे हो सकेगा। इसीलिये तो भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लादने भगवान्‌से यही वर माँगा था—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु त्वयि दृढा॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

भक्तवर भरतजीने भी त्रिवेणीजीसे यही तो वर माँगा था—

अरथ न धरम न कामरुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

एक अन्य भक्तकी प्रार्थना है—

नाथ! व्रजके लता पता माहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावनकी रज जामें सिर मीजै॥
आवत जात कुंजकी गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख यह बर मुह माँग्यो हरि दीजै॥

ऐसे ही अनन्य भक्तोंको लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदासजीने कह दिया है 'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।' श्रीभगवान्‌का भी उनके प्रति आश्वासन है—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(रा०च०मा० ३। १६)

ऐसे परम भागवत जो हर समय खाते-पीते, उठते-बैठते बस—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

—और उन्हींकी रूपमाधुरीका रसास्वादन करते हुए सर्वदा ब्रह्मानन्द-सिन्धुमें निमग्न रहते हैं। ऐसे परमप्रेमी भक्तोंके लवमात्रके सङ्गसे स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवत (१। १८। १३)-में कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

इसीका अनुवाद है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

साधकोंके प्रति—

सब साधनोंका सार

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जीवमात्रका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। वह सत्ता सत्-रूप, चित्-रूप और आनन्द-रूप है। वह सत्ता नित्य-निरन्तर ज्यों-की-त्यों निर्विकार, असंग रहती है। इस स्वरूपको अर्थात् अपने-आपको जब मनुष्य भूल जाता है, तब उसमें देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वह अपनेको शरीर मान लेता है। शरीरसे माना हुआ यह सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—१. मैं शरीर हूँ, २. शरीर मेरा है और ३. शरीर मेरे लिये है।

हमारे देखनेमें दो ही चीजें आती हैं—नाशवान् (जड़) और अविनाशी (चेतन)। इन दोनोंका विभाग अलग-अलग है। इसीको गीताने शरीर और शरीरी, क्षर और अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहा है। इसीको सन्तोंने 'नहीं' और 'है' नामसे कहा है। हमारा स्वरूप शरीरी है, चेतन है, अविनाशी है, अक्षर है, क्षेत्रज्ञ है और 'है'-रूप है। जो हमारा स्वरूप नहीं है, वह शरीर है, जड़ है, नाशवान् है, क्षर है, क्षेत्र है और 'नहीं'-रूप है। जो 'है'-रूप है, वह नित्यप्राप्त है और जो 'नहीं'-रूप है, वह मिलता है और बिछुड़ जाता है।

एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेसे शुद्ध 'है' दीख जाता है। कारण यह है कि मैं शुद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्मा हूँ—इस प्रकार 'है' पर विचार करनेमें हम मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ 'नहीं' (मन-बुद्धि, वृत्ति, मैं-पन) भी मिला रहेगा। परंतु मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है—इस प्रकार 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे विचार करनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा। उदाहरणार्थ—झाड़ूके द्वारा कूड़ा-करकट दूर करनेसे उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और साफ मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ'—इसका मनसे चिन्तन तथा बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परंतु 'मैं शरीर नहीं हूँ'—इस प्रकार विचार करनेपर शरीर और वृत्ति दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और चिन्मय सत्तारूप शुद्ध स्वरूप स्वतः शेष रह जायगा। इसलिये तत्त्वप्राप्तिमें निषेधात्मक साधन मुख्य है। निषेधात्मक साधनमें साधकके लिये तीन बातोंको स्वीकार कर लेना आवश्यक है—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। जबतक साधकमें यह भाव रहेगा कि मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये है, तबतक वह कितना ही उपदेश पढ़ता-सुनता रहे और दूसरोंको सुनाता रहे, उसको शान्ति नहीं मिलेगी और कल्याण भी नहीं होगा। इसलिये गीताके आरम्भमें ही भगवान्ने साधकके लिये इस बातपर विशेष जोर दिया है कि जो बदलता है, जिसका जन्म और मृत्यु होती है, वह शरीर तुम नहीं हो।

मैं शरीर नहीं हूँ

सर्वप्रथम साधकको यह बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि मैं चिन्मय सत्तारूप हूँ, शरीररूप नहीं हूँ। हम कहते हैं कि बचपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। शरीरको देखें तो बचपनसे लेकर आजतक हमारा शरीर इतना बदल गया कि उसको पहचान भी नहीं सकते, फिर भी हम वही हैं—यह हमारा अनुभव कहता है। बचपनमें मैं खेलता-कूदता था, बादमें मैं पढ़ता था, आज मैं नौकरी-धंधा करता हूँ। सब कुछ बदल गया, पर मैं वही हूँ। कारण कि शरीर एक क्षण भी ज्यों-का-त्यों नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदलता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। जो नहीं बदलता, वही हमारा स्वरूप है।

हमने अबतक असंख्य शरीर धारण किये, पर सब शरीर छूट गये, हम वही रहे। मृत्युकालमें भी शरीर तो यहीं

छूट जायगा, पर अन्य योनियोंमें हम जायँगे, स्वर्ग-नरक आदि लोकोंमें हम जायँगे, मुक्ति हमारी होगी, भगवान्‌के धाममें हम जायँगे। तात्पर्य है कि हमारी सत्ता (होनापन) शरीरके अधीन नहीं है। शरीरके बढ़ने-घटनेपर, कमजोर-बलवान् होनेपर, बालक-बूढ़ा होनेपर अथवा रहने-न रहनेपर हमारी सत्तामें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। जैसे हम किसी मकानमें रहते हैं तो हम मकान नहीं हो जाते। मकान अलग है, हम अलग हैं। मकान वहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही शरीर यहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। शरीर तो मिट्टी हो जाता है, पर हम मिट्टी नहीं होते। हमारा स्वरूप गीताने इस प्रकार बताया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
(२। २३-२४)

शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती। यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।

तात्पर्य है कि शरीरका विभाग ही अलग है और न बदलनेवाले शरीरी (स्वरूप)-का विभाग ही अलग है। हमारा स्वरूप किसी शरीरसे लिप्त नहीं है, इसलिये उसको गीतामें भगवान्‌ने सर्वव्यापी कहा है—**'येन सर्वमिदं ततम्'** (२। १७) **'सर्वगतः'** (२। २४)। तात्पर्य है कि स्वरूप एक शरीरमें सीमित नहीं है, प्रत्युत सर्वव्यापी है।

शरीर पृथ्वीपर ही (माँके पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीर मुख्य नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप मुख्य है।

यद्यपि होनापन (सत्ता) आत्माका ही है, शरीरका नहीं, तथापि साधकसे भूल यह होती है कि वह पहले शरीरको देखकर फिर उसमें आत्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि आत्मा पहले थी या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है और शरीर पीछे है। भाव पहले है और आकृति पीछे है। इसलिये हमारी दृष्टि पहले भावरूप आत्मा (स्वरूप)-की तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं।

जैसे भोजनालय भोजन करनेका स्थान होता है, ऐसे ही यह शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान (भोगायतन) है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता, प्रत्युत शरीरसे सम्बन्ध जोड़नेवाले हम स्वयं होते हैं। भोगनेका स्थान अलग होता है और भोगनेवाला अलग होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम कैसा ही कपड़ा पहनें, कपड़ा अलग होता है, हम अलग होते हैं। जैसे हम अनेक कपड़े बदलनेपर भी एक ही रहते हैं, अनेक नहीं हो जाते, ऐसे ही अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी हम स्वयं एक ही (वही-के-वही) रहते हैं। जैसे पुराने कपड़े उतारनेपर हम मर नहीं जाते और नये कपड़े पहननेपर हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीर छोड़नेपर हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेपर हम पैदा नहीं हो जाते।* तात्पर्य है कि शरीर जन्मता-मरता है, हम नहीं जन्मते-मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पाप-पुण्यका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें और स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्त कौन होगा? हमारा जीवन इस शरीरके अधीन नहीं है। हमारी आयु बहुत लम्बी—अनादि और अनन्त है। महासर्ग और

* वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता २। २२)

महाप्रलय हो जाय तो भी हम जन्मते-मरते नहीं, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हैं—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥'** (गीता १४। २)

हमारा और शरीरका स्वभाव बिलकुल अलग-अलग है। हम शरीरके साथ चिपके हुए, शरीरके साथ मिले हुए नहीं हैं। शरीर भी हमारे साथ चिपका हुआ, हमारे साथ मिला हुआ नहीं है। जैसे शरीर संसारमें रहता है, ऐसे हम शरीरमें नहीं रहते। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। वास्तवमें हमें शरीरकी जरूरत ही नहीं है। शरीरके बिना भी हम स्वयं मौजसे रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ता। अबतक हम असंख्य शरीर धारण कर-करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फ़र्क़ पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे—**'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'** (गीता ८। १९)

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उदाहरणार्थ, सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-के समय हमें शरीरादिके अभावका अनुभव होता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें मैं नहीं था, मर गया था। कारण कि शरीरादिके अभावका अनुभव होनेपर भी हमें अपने अभावका अनुभव नहीं होता। तभी जगनेपर हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। इससे सिद्ध हुआ कि हमारा होनापन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारके अधीन नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता।

हमारा स्वरूप स्वतः-स्वाभाविक असंग है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५), **'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'** (गीता १३। २२)। इसलिये शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानते हुए भी वास्तवमें हम शरीरसे लिप्त नहीं होते। शरीरका संग करते हुए भी वास्तवमें हम असंग रहते हैं। तभी भगवान् कहते हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। तात्पर्य है कि बद्धावस्थामें भी स्वरूप वास्तवमें मुक्त ही है। बद्धपना माना हुआ है और मुक्तपना हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। जैसे अन्धकार और प्रकाश आपसमें नहीं मिल सकते, ऐसे ही शरीर (जड़, नाशवान्) और स्वरूप (चेतन, अविनाशी) आपसमें नहीं मिल सकते। कारण कि शरीर संसारका अंश है और हम स्वयं परमात्माके अंश हैं।

एक ही दोष अथवा गुण स्थानभेदसे अनेक रूपोंसे प्रकट होता है। शरीरको अपनेसे अधिक महत्त्व देना अर्थात् शरीरको अपना स्वरूप मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र)-को शरीरसे अधिक महत्त्व देना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण सद्गुणोंकी उत्पत्ति होती है।

अर्जुनने गीताके आरम्भमें भगवान्से अपने कल्याणका उपाय पूछा—**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२। ७)। इसके उत्तरमें भगवान्ने सर्वप्रथम शरीर और शरीरी (स्वरूप)-का ही वर्णन किया। इससे सिद्ध होता है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसके लिये सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ'। जबतक उसमें 'मैं शरीर हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक वह कितना ही उपदेश सुनता रहे अथवा सुनाता रहे और साधन भी करता रहे, उसका कल्याण नहीं होगा।

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको 'मैं' मानना मनुष्यता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इसलिये श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।' [**क्रमशः**]

शरणागति

(पं० श्रीबृजेशकुमारजी पयासी 'मानस-प्रवचनकर्ता')

भगवान्‌के प्रति विश्वासपूर्वक पूर्णसमर्पणभाव सच्ची शरणागति है। शरणागतिका मूल रहस्य है भगवान्‌के प्रति निश्छलभावसे अपनी समस्त विवशताओं और दुर्बलताओंके साथ आत्मदान। अपनी अपूर्णता और प्रभुकी असीम पूर्णता, अपनी लघुता और प्रभुकी विराटताका अनुभव अणु जीवको विभु परमदेवके प्रति समर्पित हो जानेको प्रेरित करता है। अपने अहंका अबोधभाव शरणागतिका प्रथम सोपान है। क्योंकि अहंकारके अधीन होकर प्राणी अनैतिक चेष्टाएँ करता है, जिससे उसका पतन हो जाता है, इस पतनके मार्गका सर्वथा त्याग करना ही वास्तविक शरणागति है।

अहंकारको तबतक नहीं जीता जा सकता जबतक प्रभुका कृपा-कटाक्ष प्राणीपर पड़ न जाय। कहनेका भाव यह कि इस अहंकारकी शृङ्खलाको अनन्तगुणगणैक प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर देना शरणागति है।

प्रभुके आश्रयमें निराश्रय बनकर जाना शरणागति है। अपनी समस्त क्रियाओंको परमप्रभुको समर्पित करना शरणागति है। अकिंचनत्व, आर्तित्व, अगतित्वकी धारणा कर प्रभुके चरणोंमें प्रार्थनाके महाविश्वासको धारण करना प्रपत्ति या शरणागति है।

शरणागतिके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रभुकी उस वाणीको समझनेका प्रयास करे जो श्रीमद्भगवद्गीतामें निहित है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

अर्थात् सभी धर्मों (आश्रयों)-का परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लो। मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत करो।

अस्तु! प्रभुको अपना सर्वस्व अर्पण कर दो।

शास्त्रों और सद्गुरुओंने छः प्रकारकी शरणागति बतलायी है, जिसपर चलकर जीव भगवत्प्राप्ति कर सकता है—यथा—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

(अहिर्बुध्न्य सं० ३७।२८-२९)

यही बात श्रीभारद्वाजसंहितामें निहित है—

प्रपत्तिरानुकूलस्य संकल्पोऽप्रतिकूलता।
विश्वासो वरणं न्यासः कार्पण्यमिति षड्विधा॥

इन श्लोकोंका भाव यह है कि प्रपत्ति या शरणागतिके छः अङ्ग हैं—(१) भगवान्‌के अनुकूल होनेका संकल्प, (२) कभी उनके प्रतिकूल न होना, (३) वे रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) भगवान्‌को रक्षक मानना, (५) आत्मसमर्पण और (६) नितान्त दीनता।

हम क्रमशः इनके पदोंमें चलकर इनका अवलोकन करें।

(१) आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः—प्रपत्तिके प्रथमाङ्गमें शरणागतद्वारा प्रभुके प्रति सर्वथा अनुकूल रहनेका संकल्प है। प्रथम संकल्पके साथ उस सर्वशरण्यके प्रति सहज भागवती धर्ममयी चर्याको धारणकर आराध्यके प्रति **'तत्सुखसुखित्वम्'**की भावनाको जानकर प्रभुका कैंकर्य करते रहना चाहिये।

साधक किसी भी अवस्थामें हो, वह केवल एक-संकल्प होकर भगवन्मङ्गलानुशासन करे एवं सर्वभूतोंके हित एवं प्रियकी सेवाओंके प्रतिकूल न हो, यह आनुकूल्य है। यथा—

आनुकूल्यमिदं प्रोक्तं सर्वभूतेष्वानुकूलता।

अस्तु! प्रियकी रुचि एवं समस्त भूतोंकी हिताकाङ्क्षा, आनुकूल्यता निर्देशित करती है। उदाहरणके लिये—

जैसे—गौतम ऋषिकी पत्नी अहल्या दैववश शापकी अधिकारिणी बनीं। किंतु, पाषाणखंडा होनेके पश्चात् भी प्रभु-के प्रति उनकी आनुकूल्यता बनीं रही और संतकृपा, भगवत्कृपासे उनका उद्धार हुआ।

रामजी महाराज एवं विश्वामित्रसहित लखन लालजू जा रहे थे मिथिलाकी ओर, अचानक एक आश्रम आया, उसे देखकर रामजी अनभिज्ञ बने रहे। मानो यह शिक्षा दे रहे हों कि गुरुदेवके सम्मुख कभी ज्ञाता न बनो। गुरुदेवने बड़े प्रेमसे कहा—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥

(रा० च० मा० १।२१०)

मानसकेसरी पं० श्रीवाल्मीकिप्रसादजी इसी बातको बताते हुए कहते हैं कि कृपा करनेके पाँच आधार हैं—

(१) गौतम नारि—

गौतम नारी को मिले, आज शाप उद्धार।
इसीलिये तो आपने लिया मधुर अवतार॥

(२) शापवश—

शाप विवश सकतीं न कर अपना कुछ उपचार।
अस्तु कृपानिधि करि कृपा करें आज उद्धार॥

(३) उपल देह—

इतना तप इसने किया कि प्रस्तर हुआ शरीर।
प्रायश्चित तो हो चुका कृपा करें रघुबीर॥

(४) धरि धीर—

खग मृग ने भी तज दिया करके पाप विचार।
अब आशा प्रभु की लिये उचित आज उद्धार॥

(५) रज चाहति—

जो रज कीट पतंग को लुटा रहें हैं आप।
हर सकती है किसी का आज महा संताप॥

और अन्ततः श्रीरामजी महाराजने उनका उद्धार किया, क्योंकि अहल्या-चरित्रमें आनुकूल्य संकल्पकी भावना निहित है।

तात्पर्य यह कि आराध्यके प्रति अनुकूलता ही सर्वश्रेयस्कर है।

(२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—शरणागतिका यह दूसरा अंग है। इसके अन्तर्गत प्रभु-प्रतिकूलताके त्यागको बताया गया है। 'शास्त्रों एवं संतोंके द्वारा बताये हुए अविहित कर्मोंको न करना प्रतिकूलताका त्याग कहलाता है।' इस प्रकारके आचरणोंको प्रपन्न कभी भी न करे। ये सभी निषिद्ध आचरण '**प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्**' कहलाते हैं।

पतिके प्रतिकूल स्त्री, पिताके प्रतिकूल पुत्र, शास्त्रनिषिद्ध आचरणनिष्ठ जैसे सुखका दर्शन नहीं करते वैसे ही शास्त्रों, संतोंके प्रतिकूल चलनेवालेकी दुर्गति ही होती है। अतः प्रभुकी शास्त्ररूप आज्ञाओंका पालन करना चाहिये और तत्प्रतिकूलका वर्जन करना चाहिये।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

संतोंद्वारा, शास्त्रोंद्वारा जो निषिद्ध कर्म बताये गये हैं, प्रपन्नको उन्हें स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। यह '**प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्**' है। जो बातें प्रेमास्पदके प्रतिकूल हों उनका आचरण न करे।

(३) रक्षिष्यतीति विश्वासः—'प्रभु हमारी रक्षा अवश्य करेंगे, ऐसा अटूट विश्वास प्रपन्नके हृदयमें जब उदय होता है तब '**रक्षिष्यतीति विश्वासः**' सार्थक होता है।

सर्वसमर्थ प्रभु मुझ शरणागतकी रक्षा अवश्य ही करेंगे क्योंकि, मैं उनका ही हूँ—

'तवास्मि जानकीकान्तो मनसा वाचा कर्मणा'

प्रभो! आपका विरद बहुत विशाल है, आपहीने तो भक्तोंको वचन दिया है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा०रा० युद्धकाण्ड १८। ३३)

अर्थात् जो एक बार भी मैं आपका हूँ इस प्रकारसे कहता है, उसे मैं सभीसे अभय कर देता हूँ। यह मेरी प्रतिज्ञा है।

इस प्रकार प्रभुके वचनोंपर प्रतीति रखना प्रपन्नका कार्य होना चाहिये। यह बात विभीषणजीके चरित्रमें देखी जा सकती है—

विभीषणजी महाराजने बड़े भाई रावणसे द्रोह किया और प्रभुकी शरणमें आ गये। पर सुग्रीव आदि उसे संदेहकी दृष्टिसे देखते हुए कहते हैं—

कपिन्ह बिभीषनु आवत देखा। जाना कोउ रिपु दूत बिसेषा॥
ताहि राखि कपीस पहिं आए। समाचार सब ताहि सुनाए॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन भाई॥
जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

कपिगण उस परमार्थ-पथके पथिकको बन्दी बनाना चाहते हैं जो अपनी रक्षाके लिये प्रभुकी शरणमें आया है। *'राखिअ बाँधि'* में यही भाव दृष्टिगोचर होता है।

ऐसे वचन जब प्रभुजी सुने तो वे बड़ी सरलतासे

कहते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥

मेरा प्रण तो शरणागतकी रक्षा करना है—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

और फिर शरणागत विभीषणजी भगवान्‌के प्रिय हो गये। कारण केवल एक ही था, मनमें प्रभुके प्रति यह महाविश्वास कि प्रभु मुझे अवश्य अपनायेंगे। इसलिये—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥

(रा०च०मा० १। २११)

(४) गोप्तृत्ववरणं तथा—शरणागतको चाहिये कि वह सदैव प्रभुसे यह प्रार्थना करे कि मैं आपका हूँ आपकी शरणमें हूँ। मेरेद्वारा जो मन, वचन और कर्मसे अपराध हुए हैं, उन्हें आप दयानिधान क्षमा करें। मैं पापी प्राणी आपके चरित्रमें मन न लगा सका, आपका विधान तो बहुत बड़ा है। प्रभो! आप मेरी रक्षा करें। जब ऐसी प्रार्थना होगी जो प्रभुको याद दिलायेगी यह गोप्तृत्ववरण है।

अपने रक्षणभारको सर्वशरण्यके श्रीचरणोंमें समर्पित करनेकी भावना शरणागतिका चतुर्थाङ्ग है।

(५) आत्मनिक्षेपः—प्रभुके श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण करना ही शरणागति है। जब प्रपन्न प्रभुको अपना सर्वस्व मान ले और अपना मान-सम्मान, मन, वचन, कर्म सब समर्पित कर दे। वह सर्वसमर्पण आत्मनिक्षेप होगा। जैसे एक कुलीन स्त्री अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषसे कोई अपेक्षा नहीं करती वरन् उसे अपना सर्वस्व दानकर उसीकी सेवामें रत रहती है। ठीक उसी प्रकार जीवात्मारूपी कन्याका, भगवान् रूपी पतिको समर्पित हो जाना उन्हींकी सेवा करके जीवन-यापन करना सच्चे शरणागतका लक्षण है। प्रपन्नद्वारा अपना सर्वस्व शरण्यके चरणोंमें अर्पित करके दुर्लभ कैंकर्य करनेकी आज्ञा माँगना और उसपर दृढ़ होना—यह प्रपन्नका कार्य है। नारद-पाञ्चरात्रमें कहा गया है—

योऽहं ममास्ति यत् किञ्चिदिहलोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरेव चरणेषु समर्पितम्॥
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।

प्रपन्नको चाहिये कि वह अपने अन्तः और बाह्य स्थितिको पुष्पके समान परमात्माके चरणोंमें निवेदित कर दे।

(६) कार्पण्यम्—प्रभुको अपनी कार्पण्यता निवेदित करनी चाहिये। कार्पण्यताका अर्थ है नितान्त दीनता।

दैन्यानुसंधान करके प्रभुके सन्मुख जाना और उसी दैन्यभावको प्रभुके सम्मुख प्रकट करना शरणागतका स्वरूप है।

विभीषणजी महाराजने प्रभुके समक्ष अपनी कार्पण्यता निवेदित की—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥
सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥

अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः॥
भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः।
परित्यक्ता मया लंका मित्राणि च धनानि च॥
भवद्गतं हि मे राज्यं जीवितं च सुखानि च।

(वा०रा० युद्धकाण्ड १९। ४—६)

विभीषणने कहा—भगवन्! मैं रावणका छोटा भाई हूँ। रावणने मेरा अपमान किया है। आप समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले हैं, इसलिये मैंने आपकी शरण ली है। अपने सभी मित्र, धन और लङ्कापुरीको मैं छोड़ आया हूँ। अब मेरा राज्य, जीवन और सुख सब आपके ही अधीन है।

दीनता निवेदन करनेके पश्चात् विभीषणजी प्रभुके प्रिय हो गये। इस प्रकार शरणागतिमें षडङ्गोंका महत्त्व है।

यदि हमें अपने जीवनको प्रेमास्पद प्रभुके प्रेममें निमग्न करना है तो उनके द्वारा प्रतिपादित नियमोंपर चलकर उन्हें प्राप्त करनेका यथाशीघ्र प्रयास करना चाहिये। शरणागतिके इन अंगोंको आत्मसात् करके भगवत्कैंकर्य प्राप्तकर अपना जीवन सफल बनाना चाहिये।

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ६२६ से आगे]

आज श्रीगुरुवार है। आज यह निश्चय है गयौ कि, इन्द्रिय तथा मन कौ संयम कष्टसाध्य है, असाध्य नहीं। अर्थात् सर्वथा सुसाध्य है। यामें हमारी ही शिथिलता है।

मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य

तथा च

होय बुद्धि जौ परम सयानी

निष्कर्ष यह है कि, हमें सदैव बुद्धि बलवती बनाये राखनी चहिये।

बात यही जानि परै है कि, मन कूँ विषयनमें विशेष रस मिलै है। कारण यहू है कि, जन्म-जन्मान्तर सौं जब-जब, जा-जा यौनिमें जीव पहुँच्यौ, विशेषतया विषयनकौ ही शिकार होतौ रह्यौ है। देव-यौनि हमलोगन सौं बहुत ऊँची मानी जायँ हैं, किंतु वे तौ मनुष्यन सौं कई गुने अधिक विषयनके गुलाम बने बैठे हैं। यही कारण है कि, मन बार-बार रोकिवे पै हू उसमें ही भटकतौ रहै है। येन-केन प्रकारेण अपनौं काम बनाय ही लेय है। प्रकृतिने दौनौं प्रकारकी वस्तुएँ रची हैं।

यथा अग्नि दाहक है—तौ

याके शमनके ताँईं जल इत्यादि।

यहाँ मन कूँ रसान्तरमें लायवेके ताँईं श्रीप्राणनाथकी स्मृति ही परमौषधि है।

यह अनुभूति है कि—जा क्षण श्रीप्राण-प्रियतमकौ स्मरण कैसें हूँ होयवे लगै वा क्षण अन्तःकरणमें कोई हू विकार ठहर ही नहीं पावै है।

अब हमारौ कर्तव्य है कि—

मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य

—बार-बार श्रीप्राणवल्लभकी स्मृति। लयके साथ श्रीनामोच्चारण तथा श्रवणके द्वारा श्रवण। साथ ही यामें आनन्दकौ अनुभव करनौं।

—बार-बार विषयनके दोषन कौ चिन्तन—

रावण, कीचक, दुर्योधन आदिक हरिदास पुरुष तथा वर्तमानमें हूँ अनेकन उदाहरण प्रस्तुत हैं। हाँ, एक बात परम संतोषकी है कि—

समझायवे सौं मन समझि जाय है। बहुत पुरानौं रोग है। धीरें-धीरें हटि सकै है।

यदि चाहैं और पूर्ण प्रयत्न करैं तौ—सदाचारी, निरोग तथा भगवद्भक्त सब ही बनि सकैं हैं।

श्रद्धा—गुरुजननके वाक्य अथवा स्वनिर्मित नियमनकौ पालन। **(परिवर्तन नहीं करनौं)**

तप—नियमके पालनमें जो कष्ट सहनौं परै, प्रसन्नता सौं सहलेय और मनमें यही मानैं कि, यह सब श्रीप्राणनाथकी कृपा है, जो सहन करवाय रहे हैं। अन्यथा मैं क्षुद्र जन्तु कष्ट कैसें सह लेंतौ?

संयम—आहार-विहार तथा नियम-पालनमें यथातथ्य वर्ताव।

सत्य—नियम-पालन तथा आत्मनिरीक्षणमें।

उच्च विचार तथा उच्चतम क्रिया—ये पाँचौ परमावश्यक हैं।

ज्ञान-मार्गमें वैराग्यकी प्रधानता है। अतएव मनोनिग्रह करनौं परै है। किंतु भाव-राज्यके पथमें मनोलयकी विशेषता है। महाहठी, महाचंचल मन या स्थितिमें **(श्रीजीवनधनके सान्निध्य अनुभवके आनन्दमें)** ऐसौ डूबि जाय है कि, न वहाँ मनकौ पतौ लगै है, न बिचारी इन्द्रियाँ हीं कछु जानि परैं हैं, विषयकी तौ गन्ध हू नहीं रहै है। विषय स्वसंवेद्य है। स्थिति बहुत ऊँची है।

सबकौ संचालक तथा सबकौ जानिवे वारौ मन ही जब महानन्दमें डूबि गयौ, तब कौन वहाँकी स्थिति कूँ वर्णन करै? आवश्यकता है, बड़े धैर्यके साथ या अवस्थामें

प्रवेश करिवे की। अति-कठिन होते भये हू दुर्लभ नहीं। यह चशका यदि लगिवे लगै तौ अन्तर्मुखी वृत्ति स्वतः होयवे लगैगी।

समस्त प्रपंच।

समस्त विषय।

ऐसे साधक कूँ स्वतः त्यागिवे लगें हैं।

न त्यागकी आवश्यकता परै और न वैराग्यकी खोज ही करनी परै।

कामके विषयमें समस्त सन्तनने अपने विचार व्यक्त किये हैं। सबने यासौं बचिवेकी सम्मति दई है। सवरे सद्ग्रन्थनमें याकी घोर निन्दा करी गयी है! सूकर तौ महानीच स्वपच आदिक ही अपने यहाँ पालें हैं। ब्राह्मणके द्वार पै तौ गौमाता ही दीखै है। यह सब प्रकार सौं साधकको हानि ही करै है। यदि साधकने याकूँ अजेय यद्वा दुर्जेय मानि लियौ, तब तौ याकी खूब बनि आवै है और तब तौ यह घोर आक्रमण करै है और यदि कदाचित् साधक भ्रान्ति सौं कहूँ यह मानि बैठ्यौ कि, मैंने काम पै विजय कर लीनी है। मैं चाहैं जहाँ रहूँ, स्त्री आदिकनके सम्पर्कमें हूँ, मोकूँ, कबहूँ विकारकी गन्ध नहीं उठै। जानें वे कैसे दुर्बल साधक होयँ हैं, जो सदैव यासौं भयभीत रहैं हैं? यह है ही कितनी गिनतीमें इत्यादि—तब तौ समझ लेउ कि, यह महाशत्रु धोखौ दैकैं, समय पायकैं बिचारे विजयम्मन्य प्राणी कूँ बुरे ढँग सौं नरक-कुण्डमें पटकि कैं पतन कराय बैठे है।

साधक कूँ या नीच सौं सदैव सावधान रहनौं चहिये। सदैव विषय-सम्बन्धी वस्तुन सौं दूरि ही रहै।

इन्द्रियन कूँ पूर्णतः अपने वशमें राखै।

मन कूँ धीरे-धीरे समझातौ रहै।

मनकी प्रगति पै दृष्टि राखै।

सत्व गुण कूँ बढ़ातौ रहै।

श्रीप्रियतममें प्रेम करिवेकी लालसा तथा पूर्ण प्रयत्न करतौ रहै।

याके शमन करिवेके ताँईं श्रीशंकर भगवान्की आराधना करनी उचित जानि परै है।

क्रमशः—

पूर्ण-प्रतिज्ञा होय, विषय सौं बचिवेकी।

विकार भाव सौं कबहूँ न देखै, न सुनै, न छुवै, न पढ़ै। विषयन सौं दूर ही रहै।

विषयवर्द्धक कोई वस्तु अपने समीप न राखै।

विषय-चिन्तन करिवे सौं मन कूँ बचावै।

याके दुष्परिणामन कूँ मनके समक्ष धरै।

श्रीप्राण-प्रियतमकौ चिन्तन बढ़ावै।

जीव जा समय चिन्ता, शोक, क्रोधादिकनके वेग सौं आक्रान्त रहै है। वा समय हू भोजन तौ करि हि लेय है, किंतु रस नहीं आवै।

ठीक यही दशा विकारयुक्त जपकी है।

ऐसौ आहार शरीरमें लाभ नहीं पहुँचावै, प्रत्युत विष ही बढ़ावै है। ऐसें हीं—शोक, चिन्ता, क्रोधादिकन सौं युक्त भजन अन्तःकरणमें सत्व नहीं बढ़ाय पावै, प्रत्युत भोग उपस्थित करि देय है।

मन है तौ हमारौ ही तथा यह हमारौ सेवक है। हमारी असावधानता सौं यह हम पै शासन करिवे लग्यौ है। पुनः सावधानता स्वीकार करते ही यह दास है जायगौ।

हमतौ प्रतिक्षण लय चाहैं हैं।

जीते-जी यहीं सब सुख भोगि लैं, मरिवे पै कौन ने देख्यौ है?

अखण्ड मौनके समान अपनौं हितकर कोई व्रत नहीं।

साधन तथा नियम-पालन श्रीगिरिराज भगवान्के सान्निध्यमें ही पूर्णतया पालन हौयँ हैं।

विरहकौ विशेष महत्त्व या कारण सौं है कि, विरहकी अग्निमें सवरे शुभाशुभ कर्म-फल नष्ट है जायँ हैं।

सबसौं कठिन है—राग-द्वेष। सो सर्वथा विदा है जायँ हैं। कठिन है संसारकी विस्मृति, सो स्वप्नमें हू नहीं उठै है। निरन्तर अविच्छिन्न तैलधारावत् अन्तःकी वृत्ति अपने श्रीप्राण-प्रियतममें ही अटकी रहै है। कोई प्रयत्न नहीं करनौं परै। प्रत्युत हटायवेकौ प्रयत्न करै, तऊ वह वृत्ति नहीं हटै।

[क्रमशः]

विदुरनीति

चौथा अध्याय

[गताङ्क पृ०-सं० ६३७ से आगे]

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम्॥ १॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम्।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा॥ २॥

साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम्।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम्॥ ३॥

हंस उवाच

एतत् कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत॥ ४॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥ ५॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत॥ ६॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद् वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत॥ ७॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम्॥ ८॥

परश्चेदेनमभिविध्येत वाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति॥ ९॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति॥ १०॥

विदुरजी कहते हैं—इस विषयमें दत्तात्रेय और साध्य देवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, यह मेरा भी सुना हुआ है॥ १॥ प्राचीन कालकी बात है, उत्तम व्रतवाले महाबुद्धिमान् महर्षि दत्तात्रेयजी हंस (परमहंस)-रूपसे विचर रहे थे, उस समय साध्य देवताओंने उनसे पूछा—॥ २॥

साध्य बोले—महर्षे! हम सब लोग साध्य देवता हैं, आपको केवल देखकर हम आपके विषयमें कुछ अनुमान नहीं कर सकते। हमें तो आप शास्त्रज्ञानसे युक्त, धीर एवं बुद्धिमान् जान पड़ते हैं; अतः हमलोगोंको विद्वत्तापूर्ण अपनी उदार वाणी सुनानेकी कृपा करें॥ ३॥

हंसने कहा—देवताओ! मैंने सुना है कि धैर्य-धारण, मनोनिग्रह तथा सत्य-धर्मोंका पालन ही कर्तव्य है, इसके द्वारा पुरुषको चाहिये कि हृदयकी सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने आत्माके समान समझे॥ ४॥ दूसरोंसे गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे। क्षमा करनेवालेका रोका हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको जला डालता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है॥ ५॥ दूसरेको न तो गाली दे और न उसका अपमान करे, मित्रोंसे द्रोह तथा नीच पुरुषोंकी सेवा न करे, सदाचारसे हीन एवं अभिमानी न हो, रूखी तथा रोषभरी वाणीका परित्याग करे॥ ६॥ इस जगत्में रूखी बातें मनुष्योंके मर्मस्थान, हड्डी, हृदय तथा प्राणोंको दग्ध करती रहती हैं; इसलिये धर्मानुरागी पुरुष जलानेवाली रूखी बातोंका सदाके लिये परित्याग कर दे॥ ७॥ जिसकी वाणी रूखी और स्वभाव कठोर है, जो मर्मपर आघात करता और वाग्बाणोंसे मनुष्योंको पीड़ा पहुँचाता है, उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह मनुष्योंमें महादरिद्र है और वह अपने मुखमें दरिद्रता अथवा मौतको बाँधे हुए ढो रहा है॥ ८॥ यदि दूसरा कोई इस मनुष्यको अग्नि और सूर्यके समान दग्ध करनेवाले तीखे वाग्बाणोंसे बहुत चोट पहुँचाये तो वह विद्वान् पुरुष चोट खाकर अत्यन्त वेदना सहते हुए भी ऐसा समझे कि वह मेरे पुण्योंको पुष्ट कर रहा है॥ ९॥ जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरकी सेवा करता है तो वह उन्हींके वशमें हो जाता है—उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है॥ १०॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्
योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय॥ ११॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम्॥ १२॥

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥ १३॥

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि॥ १४॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्या-
न्न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम्॥ १५॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः॥ १६॥

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः॥ १७॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः॥ १८॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः॥ १९॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान्।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥ २०॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम्॥ २१॥

जो स्वयं किसीके प्रति बुरी बात नहीं कहता, दूसरोंसे भी नहीं कहलाता, बिना मार खाये स्वयं न तो किसीको मारता है और न दूसरोंसे ही मरवाता है, मार खाकर भी अपराधीको जो मारना नहीं चाहता, देवता भी उसके आगमनकी बाट जोहते रहते हैं॥ ११॥ बोलनेसे न बोलना अच्छा बताया गया है; किंतु सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, यानी मौनकी अपेक्षा भी दूना लाभप्रद है। सत्य भी यदि प्रिय बोला जाय तो तीसरी विशेषता है और वह भी यदि धर्मसम्मत कहा जाय तो वह वचनकी चौथी विशेषता है॥ १२॥ मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है॥ १३॥ मनुष्य जिन-जिन विषयोंसे मनको हटाता जाता है, उन-उनसे उसकी मुक्ति होती जाती है, इस प्रकार यदि सब ओरसे निवृत्त हो जाय तो उसे लेशमात्र भी दुःखका कभी अनुभव नहीं होता॥ १४॥ जो न तो स्वयं किसीसे जीता जाता, न दूसरोंको जीतनेकी इच्छा करता है, न किसीके साथ वैर करता और न दूसरोंको चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसामें समान भाव रखता है, वह हर्ष-शोकसे परे हो जाता है॥ १५॥ जो सबका कल्याण चाहता है, किसीके अकल्याणकी बात मनमें भी नहीं लाता; जो सत्यवादी, कोमल और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष माना गया है॥ १६॥ जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, देनेकी प्रतिज्ञा करके दे ही डालता है, दूसरोंके दोषोंको जानता है, वह मध्यम श्रेणीका पुरुष है॥ १७॥ जिसका शासन अत्यन्त कठोर हो, जो अनेक दोषोंसे दूषित हो, कलंकित हो, जो क्रोधवश किसीकी बुराई करनेसे नहीं हटता हो, दूसरोंके किये हुए उपकारको नहीं मानता हो, जिसकी किसीके साथ मित्रता नहीं हो तथा जो दुरात्मा हो—ये अधम पुरुषके भेद हैं॥ १८॥ जो अपने ही ऊपर संदेह होनेके कारण दूसरोंसे भी कल्याण होनेका विश्वास नहीं करता, मित्रोंको भी दूर रखता है, अवश्य ही वह अधम पुरुष है॥ १९॥ जो अपनी उन्नति चाहता है, वह उत्तम पुरुषोंकी ही सेवा करे, समय आ पड़नेपर मध्यम पुरुषोंकी भी सेवा कर ले, परंतु अधम पुरुषोंकी सेवा कदापि न करे॥ २०॥ मनुष्य दुष्ट पुरुषोंके बलसे, निरन्तरके उद्योगसे, बुद्धिसे तथा पुरुषार्थसे धन भले ही प्राप्त कर ले, परंतु इससे उत्तम कुलीन पुरुषोंके सम्मान और सदाचारको वह पूर्णरूपसे कदापि नहीं प्राप्त कर सकता॥ २१॥

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि॥ २२॥

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि॥ २३॥
येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि॥ २४॥
अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च॥ २५॥
देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥ २६॥
ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च॥ २७॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः॥ २८॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः॥ २९॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥ ३०॥
गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः॥ ३१॥
मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः॥ ३२॥
यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत् पितॄन्॥ ३३॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ३४॥
श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम्।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम्॥ ३५॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! धर्म और अर्थके नित्य ज्ञाता एवं बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी इच्छा करते हैं। इसलिये मैं तुमसे यह प्रश्न करता हूँ कि महान् (उत्तम) कुल कौन है?॥ २२॥

विदुरजी बोले—जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार—ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुल कहते हैं॥ २३॥ जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषोंसे माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्न चित्तसे धर्मका आचरण करते हैं तथा असत्यका परित्याग कर अपने कुलकी विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं॥ २४॥ यज्ञ न होनेसे, निन्दित कुलमें विवाह करनेसे, वेदका त्याग और धर्मका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं॥ २५॥ देवताओंके धनका नाश, ब्राह्मणके धनका अपहरण और ब्राह्मणोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं॥ २६॥ भारत! ब्राह्मणोंके अनादर और निन्दासे तथा धरोहर रखी हुई वस्तुको छिपा लेनेसे अच्छे कुल भी निन्दनीय हो जाते हैं॥ २७॥ गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते॥ २८॥ थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं॥ २९॥ सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये॥ ३०॥ जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे गौओं, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते॥ ३१॥ हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो। इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियोंको भोजन करानेसे पहले भोजन करनेवाला भी न हो॥ ३२॥ हमलोगोंमेंसे जो ब्राह्मणोंकी हत्या करे, ब्राह्मणोंके साथ द्वेष करे तथा पितरोंको पिण्डदान एवं तर्पण न करे; वह हमारी सभामें न जाय॥ ३३॥ तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार चीजोंकी कभी कमी नहीं होती॥ ३४॥ महाप्राज्ञ राजन्! पुण्यकर्म करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंके यहाँ ये तृण आदि वस्तुएँ बड़ी श्रद्धाके साथ सत्कारके लिये उपस्थित की जाती हैं॥ ३५॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः॥ ३६॥
न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम्।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि॥ ३७॥
यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम्॥ ३८॥
चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः॥ ३९॥
चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा॥ ४०॥
अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा॥ ४१॥
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते॥ ४२॥
अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम्॥ ४३॥
संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम्।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति॥ ४४॥
अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः॥ ४५॥
पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च॥ ४६॥
सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत्॥ ४७॥
चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्त्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः॥ ४८॥

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति॥ ४९॥

नृपवर! छोटा-सा भी रथ भार ढो सकता है, किंतु दूसरे काठ बड़े-बड़े होनेपर भी ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं, दूसरे मनुष्य वैसे नहीं होते॥ ३६॥ जिसके कोपसे भयभीत होना पड़े तथा शङ्कित होकर जिसकी सेवा की जाय, वह मित्र नहीं है। मित्र तो वही है, जिसपर पिताकी भाँति विश्वास किया जा सके; दूसरे तो सङ्गीमात्र हैं॥ ३७॥ पहलेसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी जो मित्रताका बर्ताव करे, वही बन्धु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है॥ ३८॥ जिसका चित्त चञ्चल है, जो वृद्धोंकी सेवा नहीं करता, उस अनिश्चितमति पुरुषके लिये मित्रोंका संग्रह स्थायी नहीं होता॥ ३९॥ जैसे हंस सूखे सरोवरके आस-पास ही मँड़राकर रह जाते हैं, भीतर नहीं प्रवेश करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चञ्चल है; जो अज्ञानी और इन्द्रियोंका गुलाम है, उसे अर्थकी प्राप्ति नहीं होती॥ ४०॥ दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव मेघके समान चञ्चल होता है, वे सहसा क्रोध कर बैठते हैं और अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं॥ ४१॥ जो मित्रोंसे सत्कार पाकर और उनकी सहायतामें कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नोंके मरनेपर उनका मांस मांसभोजी जन्तु भी नहीं खाते॥ ४२॥ धन हो या न हो, मित्रोंका तो सत्कार करे ही। मित्रोंसे कुछ भी न माँगते हुए उनके सार-असारकी परीक्षा न करे॥ ४३॥ संतापसे रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, संतापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त होता है॥ ४४॥ अभीष्ट वस्तु शोक करनेसे नहीं मिलती; उससे तो केवल शरीरको कष्ट होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप मनमें शोक न करें॥ ४५॥ मनुष्य बार-बार मरता और जन्म लेता है, बार-बार हानि उठाता और बढ़ता है, बार-बार स्वयं दूसरेसे याचना करता है और दूसरे उससे याचना करते हैं तथा बारम्बार वह दूसरोंके लिये शोक करता है और दूसरे उसके लिये शोक करते हैं॥ ४६॥ सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये बारी-बारीसे सबको प्राप्त होते रहते हैं, इसलिये धीर पुरुषको इनके लिये हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये॥ ४७॥ ये छः इन्द्रियाँ बहुत ही चञ्चल हैं; इनमेंसे जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषयकी ओर बढ़ती है, वहाँ-वहाँ बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है; जैसे फूटे घड़ेसे पानी सदा चू जाता है॥ ४८॥

धृतराष्ट्रने कहा—काठमें छिपी हुई आगके समान सूक्ष्म धर्मसे बँधे हुए राजा युधिष्ठिरके साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है। अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका नाश कर डालेंगे॥ ४९॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते॥ ५०॥

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ॥ ५१॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति॥ ५२॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः॥ ५३॥

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते॥ ५४॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः॥ ५५॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति॥ ५६॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात्॥ ५७॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम्॥ ५८॥

तन्तवः प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः।
बहून् बहूत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम्॥ ५९॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ॥ ६०॥

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते॥ ६१॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात्॥ ६२॥

महामते! यह सब कुछ सदा ही भयसे उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भयसे उद्विग्न है, इसलिये जो उद्वेगशून्य और शान्त पद हो, वही मुझे बताओ॥ ५०॥

विदुरजी बोले—पापशून्य नरेश! विद्या, तप, इन्द्रियनिग्रह और लोभत्यागके सिवा और कोई आपके लिये शान्तिका उपाय मैं नहीं देखता॥ ५१॥ बुद्धिसे मनुष्य अपने भयको दूर करता है, तपस्यासे महत् पदको प्राप्त होता है, गुरुशुश्रूषासे ज्ञान और योगसे शान्ति पाता है॥ ५२॥ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य दानके पुण्यका आश्रय नहीं लेते, वेदके पुण्यका भी आश्रय नहीं लेते, किंतु निष्कामभावसे राग-द्वेषसे रहित हो इस लोकमें विचरते रहते हैं॥ ५३॥ सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी तरह की हुई तपस्याके अन्तमें सुखकी वृद्धि होती है॥ ५४॥ राजन्! आपसमें फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनोंसे युक्त पलंग पाकर भी कभी सुखकी नींद नहीं सोने पाते, उन्हें स्त्रियोंके पास रहकर तथा सूत-मागधोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती॥ ५५॥ जो परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्मका आचरण नहीं करते। वे सुख भी नहीं पाते। उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा शान्तिकी वार्ता भी नहीं सुहाती॥ ५६॥ हितकी बात भी कही जाय तो उन्हें अच्छी नहीं लगती। उनके योगक्षेमकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। राजन्! भेदभाववाले पुरुषोंकी विनाशके सिवा और कोई गति नहीं है॥ ५७॥ जैसे गौओंमें दूध, ब्राह्मणमें तप और युवती स्त्रियोंमें चञ्चलताका होना अधिक सम्भव है, उसी प्रकार अपने जाति-बन्धुओंसे भय होना भी सम्भव ही है॥ ५८॥ नित्य सींचकर बढ़ायी हुई पतली लताएँ बहुत होनेके कारण बहुत वर्षोंतक नाना प्रकारके झोंके सहती हैं; यही बात सत्पुरुषोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। (वे दुर्बल होनेपर भी सामूहिक शक्तिसे बलवान् हो जाते हैं)॥ ५९॥ भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होनेपर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होनेपर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी फूट होनेपर दुःख उठाते और एकता होनेपर सुखी रहते हैं॥ ६०॥ धृतराष्ट्र! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओंपर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे डंठलसे पके हुए फलोंकी भाँति नीचे गिरते हैं॥ ६१॥ यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होनेपर भी एक ही क्षणमें आँधीके द्वारा बलपूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है॥ ६२॥

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात्॥ ६३॥
एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम्॥ ६४॥
अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत॥ ६५॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः॥ ६६॥
न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः॥ ६७॥
अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम्।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य॥ ६८॥
रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम्।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान्न सौख्यम्॥ ६९॥
पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन्।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति॥ ७०॥
न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान्॥ ७१॥
धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः॥ ७२॥
मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन्॥ ७३॥
संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र॥ ७४॥

किंतु जो बहुत-से वृक्ष एक साथ रहकर समूहके रूपमें खड़े हैं, वे एक-दूसरेके सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधीको भी सह सकते हैं॥ ६३॥ इसी प्रकार समस्त गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यको भी अकेले होनेपर शत्रु अपनी शक्तिके अन्दर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्षको वायु॥ ६४॥ किंतु परस्पर मेल होनेसे और एकसे दूसरेको सहारा मिलनेसे जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे तालाबमें कमल॥ ६५॥ ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं॥ ६६॥ राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्यमें धन और आरोग्यको छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है; क्योंकि रोगी तो मुर्देके समान है॥ ६७॥ महाराज! जो बिना रोगके उत्पन्न, कड़वा, सिरमें दर्द पैदा करनेवाला, पापसे सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनोंद्वारा पान करनेयोग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते—उस क्रोधको आप पी जाइये और शान्त होइये॥ ६८॥ रोगसे पीड़ित मनुष्य मधुर फलोंका आदर नहीं करते, विषयोंमें भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता। रोगी सदा ही दुःखी रहते हैं; वे न तो धनसम्बन्धी भोगोंका और न सुखका ही अनुभव करते हैं॥ ६९॥ राजन्! पहले जुएमें द्रौपदीको जीती गयी देखकर मैंने आपसे कहा था—'आप द्यूतक्रीडामें आसक्त दुर्योधनको रोकिये; विद्वान्‌लोग इस प्रवञ्चनाके लिये मना करते हैं।' किंतु आपने मेरा कहना नहीं माना॥ ७०॥ वह बल नहीं, जिसका मृदुल स्वभावके साथ विरोध हो; सूक्ष्म धर्मका शीघ्र ही सेवन करना चाहिये। क्रूरतापूर्वक उपार्जन की हुई लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र-पौत्रोंतक स्थिर रहती है॥ ७१॥ राजन्! आपके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रोंकी रक्षा करें। सभी कौरव एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु और मित्रको मित्र समझें। सबका एक ही कर्तव्य हो, सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें॥ ७२॥ अजमीढकुलनन्दन! इस समय आप ही कौरवोंके आधारस्तम्भ हैं, कुरुवंश आपके ही अधीन है। तात! कुन्तीके पुत्र अभी बालक हैं और वनवाससे बहुत कष्ट पा चुके हैं, इस समय अपने यशकी रक्षा करते हुए पाण्डवोंका पालन कीजिये॥ ७३॥ कुरुराज! आप पाण्डवोंसे सन्धि कर लें; जिससे शत्रुओंको आपका छिद्र देखनेका अवसर न मिले। नरदेव! समस्त पाण्डव सत्यपर डटे हुए हैं, अब आप अपने पुत्र दुर्योधनको रोकिये॥ ७४॥ [क्रमशः]

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥

हम कैसे रहें

समदर्शनके आदर्श

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) समदर्शी धर्मतुलाधार

तुलाधार नामके एक वैश्य थे। उन्होंने समदर्शनको ही पूजा मान लिया था। इसी समदर्शनके प्रभावसे उन्हें भगवान्‌का दर्शन प्राप्त हुआ और भगवान्‌ने उनका नाम धर्मतुलाधार रख दिया था। धर्मतुलाधार अपने शरीरमें पूर्ण कलासे युक्त अपने इष्टदेव भगवान्‌को देखते और अपनी आत्माको उन्हींकी एक कला मानते। इसी तरह दूसरेके शरीरमें भी पहले तो अपने इष्टदेवको देखते फिर कलारूपमें उसे अपना ही रूप समझते। इस तरह सभी प्राणियोंमें पूर्ण कलासे युक्त और एक कलासे युक्त भगवान्‌को देखते तो फिर द्वेष किससे करते, ईर्ष्या किससे करते? इस तरह ईर्ष्या, द्वेष आदि उनके सभी दुर्गुण मिट गये थे। उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था। वे न किसीसे झूठ बोलते, न किसीकी वस्तु हड़पते, न किसीसे झगड़ा करते; क्योंकि सभीमें वे अपनेको ही देखते थे। इसी समदर्शनके प्रभावसे तुलाधारपर पितर, देवता तथा मुनि सभी संतुष्ट रहते थे। वे भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंको जाननेवाले थे। भगवान्‌ने समदर्शनके विषयमें कहा है कि समदर्शन ही उत्कृष्ट तपस्या है, जिसके हृदयमें यह समता विराजती है, वही पुरुष सम्पूर्ण लोकोंमें तथा योगियोंमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। ऐसा व्यक्ति न मात्र स्वयंका अपितु अपनी करोड़ों पीढ़ियोंका भी उद्धार कर देता है। इतना ही नहीं, समदर्शी समस्त जगत्‌को सँभाल लेता है। स्वयं भगवान्‌ने श्रीमुखसे तुलाधारके लिये कहा है कि तुलाधारने समदर्शनसे सम्पूर्ण जगत्‌को सँभाल लिया है।

तुलाधार वैश्य थे, इसलिये वे अपने सहज कर्म (जातिगत कर्म) व्यापारादि किया करते थे। व्यापारमें सभी व्यापारियोंको दिशानिर्देश करते थे। व्यापारियोंसे वे घिरे रहते थे। उनकी बातपर ही लोग सभी वस्तुएँ लेते-देते थे। वे व्यापारी भी इन्हींकी तरह सचाईसे व्यापार करते थे। इसलिये विश्व सुखकी श्वास ले रहा था।

इस तरह दुनियामें सौ-सौ स्वर्ग उतारकर समदर्शी धर्मतुलाधार ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त हुए और तीनों लोकोंसे ऊपर प्रतिष्ठित हुए। (पद्मपुराण)

(२) समदर्शी नामदेव

हैदराबादके नरसी ब्राह्मणी ग्राममें नामदेवजीका जन्म संवत् १३२७ में हुआ था। इनके पिताका नाम दामासेठ और माताका नाम गोणाई था। इनके कुलमें दर्जीका व्यवसाय और कृष्णकी उपासना होती थी। इन्हें बचपनमें ही बता दिया गया था कि भगवान्‌को 'सम' कहते हैं; क्योंकि भगवान् प्रेममय, आनन्दमय, प्रकाशमय (सच्चिन्मय) हैं। इनमें कभी विषमता नहीं होती है। विषमता तो इनकी बहिरंगा शक्ति प्रकृतिमें होती है। इसीलिये भगवान्‌को सम और प्रकृतिको विषम कहते हैं। भगवान् सबमें विद्यमान हैं, इसलिये विषममें भी भगवान्‌के दर्शन करने चाहिये। सम उनका पारमार्थिक सत्य और विषम व्यावहारिक सत्य है। इसलिये व्यवहार व्यवहार-जगत्‌के अनुसार करते हुए भी सबमें भगवान्‌को देखना चाहिये।

नामदेव बचपनसे ही सबमें भगवान् विट्ठल (कृष्ण)-को निहारते थे और उनके प्रेमानन्दमें निमग्न रहते थे। उनके लिये विट्ठलकी मूर्ति मूर्ति न होकर साक्षात् कृष्णस्वरूप ही थी। वे इनके आग्रहपर दूध पीते और भोग भी पाते थे।

एक बार महाराष्ट्रके महान् संत ज्ञानेश्वरने नामदेवसे अपने साथ तीर्थयात्राके लिये चलनेको कहा। इस यात्रामें विट्ठलसे वियोग होना स्वाभाविक था। भगवान् भी नामदेवके वियोगसे व्याकुल हो उठे, उन्होंने ज्ञानेश्वरसे कहा कि हममें-तुममें कोई अन्तर नहीं है और मैं तुम्हें नामदेवको सौंप रहा हूँ। इस तरह सभी प्राणी भगवान्‌के ही रूप हैं, इसलिये अपनी ही तरह सबके साथ व्यवहार करना चाहिये—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

(मनुस्मृति १२। ९१)

नामदेवने उत्तरी भारतमें जाकर इस सिद्धान्तका प्रचार किया कि भगवान् हम सबमें विद्यमान हैं, इसलिये सबके साथ प्रेम-व्यवहार रखना चाहिये। ये जहाँ जाते, वहाँकी भाषामें भजन बनाकर वहाँके लोगोंको सुनाते। श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें इनके बहुत-से भजन विद्यमान हैं। इसी प्रवासमें एक बार इन्हें एक सूने मकानमें ठहरनेका अवसर मिला। लोगोंने बहुत मना किया कि इसमें अत्यन्त निष्ठुर ब्रह्मराक्षस रहता है और यहाँ आनेवालोंको बहुत परेशान करता है। नामदेव तो सबमें भगवान्‌का ही दर्शन करते थे। उन्होंने कहा कि उसमें भी तो भगवान् ही हैं। भगवान्‌से क्या डरना? वे वहीं सो गये।

आधी रातको ब्रह्मराक्षस बहुत लम्बा-चौड़ा शरीर बनाकर भयंकर चीत्कार करने लगा। नामदेवकी नींद टूट गयी। उस ब्रह्मराक्षसमें भी उन्हें अपने भगवान् विट्ठल ही दिखायी देने लगे और वे प्रेमसे गाने लगे—

भले पधारे लंबक नाथ।
धरनी पाँव स्वर्ग लौ माथा, जोजन भर के लाँबे हाथ॥
सिव-सनकादिक पार न पावैं, अनगिन साज सजायें साथ॥
नामदेव के तुम ही स्वामी, कीजै प्रभुजी मोहि सनाथ॥

इस पद्यको सुनकर भगवान् विट्ठलने सचमुच उनको अपना सुन्दर रूप दिखाया और उनसे प्रेम-प्रदर्शन किया। उधर प्रेतका प्रेतत्व भी छूट गया।

(३) दण्डवत् स्वामी

दक्षिण भारतके पैठणतीर्थमें एकनाथ नामक महात्मा रहा करते थे। उनसे बहुत लोगोंका कल्याण हुआ था। उनका एक ऐसा शिष्य था, जिसकी आध्यात्मिक उन्नति अन्य साधनोंसे नहीं हो रही थी। महात्मा एकनाथने विचार किया कि इस शिष्यका कल्याण समदर्शन-साधनसे ही सम्भव है। ऐसा विचार कर उन्होंने शिष्यको समझाया कि बेटा! मैं तुम्हें एक ऐसा साधन बता रहा हूँ, जिससे तुम्हें पूरी सफलता मिल जायगी। शास्त्रमें इस साधनका नाम समदर्शन बताया गया है। वेदने बताया है कि जो भी जड और चेतन हैं, सब भगवान् ही हैं, भगवान् ही लीलाके लिये जड और चेतनके रूपमें आ गये हैं। अतः तुम जिसे देखो उसमें पूर्ण कलारूपसे भगवान्‌को और कलारूपसे भी परमात्माको ही देखो और दण्डकी तरह लेटकर उनको प्रणाम करो—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। ३४)

सर्वाणि रूपाणि विचित्र धीरो
नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते॥
(तैत्तिरीयारण्यक ३। १२)

शिष्यको यह साधन बहुत भाया, जिसको भी आगे देखता, बस साष्टाङ्ग लेटकर उसे प्रणाम करता। इसलिये उस शिष्यका नाम दण्डवत् स्वामी पड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसको सब जगह भगवान्-ही-भगवान् दिखायी पड़ने लगे। जब उसकी आँखें बंद रहतीं तो भी भगवान् दिखायी देते। धीरे-धीरे उसे समाधि लगने लगी और वह भगवन्मय हो गया।

पैठणमें दण्डवत् स्वामीकी आज भी समाधि है, लोग उसका दर्शन करते हैं। **[क्रमशः]**
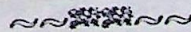
जाके गति है हनुमानकी।
ताकी पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषानकी॥
अघटित-घटन, सुघट-बिघटन, ऐसी बिरुदावलि नहिं आनकी।
सुमिरत संकट-सोच-बिमोचन, मूरति मोद-निधानकी॥
तापर सानुकूल गिरिजा, हर, लषन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपिकी कृपा-बिलोकनि, खानि सकल कल्यानकी॥
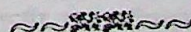
सकल गुणनिधान भगवान् राम

(डॉ० श्रीरामानन्दजी तोष्णीवाल, विशारद, एम०ए०, एम०फिल्०, पी-एच०डी०)

भगवान् राम परब्रह्म परमात्मा हैं। वे प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त चेतना शक्ति हैं। उन्होंने *'बिप्र धेनु सुर संत हित'* अवतार लिया है। वे मानव-रूपमें अपरिमित तेज, मधुर, ओजस्वी वाक्शक्ति एवं दिव्य आचरणके साथ प्रकट हुए हैं। वे अत्यन्त सहृदय, सुशील एवं सर्वगुणसम्पन्न महामानव हैं। शील, सौन्दर्य, शक्ति एवं उदारता आदि उदात्त वृत्तियोंके वे सजीव रूप हैं। उनका मानवीय गुणोंसे युक्त मर्यादामय उदात्त जीवन मानवमात्रके लिये एक आदर्श उपस्थित करता है।

रामका शील स्पृहणीय एवं अद्वितीय है। वे अनन्त शीलकी साक्षात् मूर्ति हैं। वे प्रात: उठकर माता-पिता और गुरुको प्रणाम करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

(रा०च०मा० १। २०५। ७)

वे गुरुजनोंका आदर करते हैं, सेवाभावसे विश्वामित्रके पैर दबाते हैं। जब गुरु वसिष्ठ रामके महलमें आते हैं तो वे विनयपूर्वक उनका स्वागत करते हैं—

गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥

(रा०च०मा० २। ९। ४-५)

वे राजा जनककी सभामें धनुष-भंग करनेके लिये तभी उठते हैं जब गुरु विश्वामित्र उन्हें आदेश देते हैं—

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी॥
उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा॥

(रा०च०मा० १। २५४। ५-६)

गुरुके वचन सुनकर राम उन्हें प्रणाम करते हैं और धनुष-भंगके लिये चल पड़ते हैं। धनुषको उठानेके पहले भी मन-ही-मन वे अपने गुरुका स्मरण करते हैं और तब धनुषको सहज ही उठा लेते हैं।

चित्रकूटमें राम और भरतका मिलन तो शील और स्नेहका ही मिलन है। यह शील, स्नेह, विनय, त्याग आदि उदात्त वृत्तियोंका समुच्चय सर्वथा अपूर्व है। शीलसे पूर्ण उस समाजको देखकर सभी वनवासी सात्त्विक वृत्तिमें लीन हो जाते हैं, द्रवीभूत हो उठते हैं।

रामके प्रति यदि कोई राईके समान भी उपकार कर देता है तो वे उसे पर्वतसदृश मानते हैं। वे हनुमान्‌जीके कार्योंका स्मरण करके कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

(रा०च०मा० ५। ३२। ५-६)

वे प्रथम भेंटमें ही विभीषणको लङ्काका राजा बना देते हैं; लेकिन मन-ही-मन यह सोचते हैं कि वे उसे कुछ भी नहीं दे पाये। लङ्का-विजयके बाद राम अपने सहायकोंको भूल नहीं पाते। वे उस विजयका श्रेय वानरोंको देते हुए कहते हैं—

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्‍यो। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‍यो॥

(रा०च०मा० ६। ११८। ४)

भगवान् राम अत्यन्त उदार हैं। वे अपनी माताओंमें किसी भी प्रकारकी भेद-बुद्धि नहीं रखते। यद्यपि उनकी जन्मदात्री माता कौसल्या थीं, लेकिन वे कैकेयीके लिये विशेष आदरका भाव रखते और उनके लिये भी 'जननी' शब्दका प्रयोग करते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥

(रा०च०मा० २। ४१। ७)

चित्रकूटमें वे अन्य माताओंसे पहले कैकेयीसे मिलते हैं और सम्पूर्ण घटनाचक्रका दोष काल, कर्म तथा विधाताके सिर मढ़कर उन्हें सान्त्वना देते हैं—

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

(रा०च०मा० २। २४४। ७-८)

भगवान् रामका अपने भाइयोंके प्रति अटूट प्रेम था। जब राजा दशरथ उनके राज्याभिषेकका निर्णय लेते हैं तो उन्हें यह अनुचित लगता है। वे कहते हैं कि केवल बड़ेका ही राज्याभिषेक क्यों, अन्य भाइयोंका क्यों नहीं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

(रा०च०मा० २। १०। ५—७)

उन्होंने आजीवन एक पत्नीव्रतका पालन किया और स्वप्नमें भी कभी परस्त्रीका चिन्तन नहीं किया—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

(रा०च०मा० १। २३१। ६)

राम अनन्त सौन्दर्यकी साक्षात् प्रतिमा हैं। उनके रूपमें तीनों लोकोंके सौन्दर्यका चरम उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है। वे सौन्दर्यके सार हैं। जनकपुरमें बालक, वृद्ध और वनिता

सब रामके सौन्दर्य-रसका पान करके भावाभिभूत हो जाते हैं। उस पुरमें रानियाँ अटारियोंपर बैठकर, रामका रूप निहारकर आत्म-विस्मृत हो उठती हैं। सीताकी सखियाँ राम और लक्ष्मणके सौन्दर्यका सटीक वर्णन कर पानेमें अपनेको असमर्थ पाती हैं—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

(रा०च०मा० १। २२९। २)

वनगमनके समय उनकी रूप-राशिका पान करके ग्रामवासी जन आत्म-विभोर हो उठते हैं। ग्राम-वधूटियाँ राम-जानकीके सौन्दर्यपर मुग्ध हो जाती हैं तथा उनके अनुपम सौन्दर्यका दर्शन कर कृतार्थ हो जाती हैं—

राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥

(रा०च०मा० २। ११४। ३-४)

रामके रूपपर देवता भी मोहित हो उठते हैं। यह सौन्दर्य और भव्यता राक्षसोंके हृदयको भी स्पर्श करनेवाली है। रामपर आक्रमण करनेवाले क्रूर राक्षस तो उनपर बाण चलाना ही भूल जाते हैं—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥

(रा०च०मा० ३। १९। १)

और तो और, मगर, घड़ियाल, मत्स्य और सर्प-जैसे जलचर प्राणी भी रामके दिव्य सौन्दर्यको देखकर आनन्दसे पुलकित हो उठते हैं—

मकर नक्र नाना झष ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह कें डर तेपि डेराहीं॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥
तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरि रूप निहारी॥

(रा०च०मा० ६। ४। ५—८)

रामका सौन्दर्य दिव्य है। यह सौन्दर्य सगुण भक्तोंके मनको एकाग्रता प्रदान करता है। इस सौन्दर्यके कारण उनका मन भगवान्से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। भक्त अपने आराध्यको मानसिक चेतनामें लानेके लिये उनके नाम, रूप और गुणोंका स्मरण करता है। उनकी लीलाका चिन्तन करता है। इससे उसके मस्तिष्क-पटलपर भगवान्की छवि अंकित हो जाती है और मन चञ्चलताको त्यागकर सगुण आराध्यके रूप-सौन्दर्यमें स्थिर हो जाता है।

भगवान् राम पर-दुःखकातर हैं, करुणावरुणालय हैं, दीनानाथ हैं, अशरणशरण हैं। वे वनमें अस्थिसमूहको देखकर मुनियोंसे पूछताछ करते हैं। उन्हें यह जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि राक्षसोंने मुनियोंका भक्षण किया है और ये उन्हींकी अस्थियाँ है। उनका हृदय करुणासे भर उठता है। वे उसी क्षण पृथ्वीको राक्षस-विहीन करनेकी कठोर प्रतिज्ञा करते हैं—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(रा०च०मा० ३। ९)

राम परम शक्तिसम्पन्न हैं। वे विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करते हैं और ताड़का, सुबाहु, खर-दूषण आदि राक्षसोंको नष्ट कर देते हैं। जिस शिव-धनुषको स्पर्श करनेका साहस रावण और बाणासुर-जैसे योद्धा भी न कर सके, उसे वे सहज ही भंग कर देते हैं। वे दुन्दुभि राक्षसके अस्थि-समूह और तालके वृक्षोंको सहज ही ढहा देते हैं तथा युद्ध-भूमिमें विभीषणकी रक्षा करनेके लिये रावणके द्वारा फेंके गये प्रचण्ड शूलका प्रहार स्वयं सह लेते हैं। वे अपनी शक्तिके बलपर बिना रथ, कवच और पदत्राणके ही रावणसे युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें पहुँच जाते हैं। वे कुम्भकर्ण और त्रिलोक-विजयी रावणके सदृश महाबली राक्षसोंका संहार कर देते हैं। उनका बाण अमोघ है। वह कभी निष्फल नहीं जाता।

राम सर्वशक्तिमान् हैं; लेकिन वे मर्यादाकी सीमाएँ कभी नहीं लाँघते। वे एक ही बाणसे सैकड़ों समुद्रोंको सोख सकते हैं; परंतु मर्यादाका पालन करनेके लिये समुद्रसे राह माँगते हैं। लेकिन जब उनकी प्रार्थनाका समुद्रपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब वे उसके लिये दण्डका उपक्रम करने लगते हैं। उनमें शक्तिके साथ क्षमाशीलता भी है। वे शरणमें आनेपर भयभीत समुद्रको क्षमा कर देते हैं। देवराज इन्द्रका पुत्र जयन्त उनके बलकी परीक्षा लेना चाहता है। इसपर राम धनुषपर सींकका बाण संधान करते हैं और जयन्त प्राणोंके भयसे भागता है। अन्तमें वह रामकी शरणमें आ जाता है और कृपालु राम उसे भी एकाक्षी करके प्राण-दान दे देते हैं।

इस प्रकार मर्यादापुरुषोत्तम रामका शील, सौन्दर्य और शक्तिका समन्वित स्वरूप हमारे लिये एक आदर्श है। यह हमारे जीवनमें कर्तव्यपूर्ण उत्थान और उन्नयनका मार्ग प्रशस्त करता है। भगवान् राम मङ्गल-भवन और अमङ्गलहारी हैं। वे अनाथोंपर दया करनेवाले अकाम ब्रह्म हैं। उनकी भक्ति मानवके हृदय एवं मस्तिष्कको परम शान्ति प्रदान करती है—

रघुपति-भगति सुलभ, सुखकारी। सो त्रयताप-सोक-भय-हारी॥

गोवंश-रक्षण एवं संवर्द्धन—महत्ता एवं आवश्यकता

(श्रीराजीवजी गुप्ता, सचिव, पशुधन०, उत्तर प्रदेश शासन तथा आयुक्त एवं सचिव, उत्तर प्रदेश गो-सेवा आयोग)

भारत देश मानव-सभ्यताका अग्रणी रहा है। प्रथमतः यहाँ हमारे पूर्वजोंने प्रकृतिके पञ्चतत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीरके गुणोंकी पहचान की। शिकारी जीवनको छोड़कर कृषिको अपनाया एवं विभिन्न कृषि-प्रणालियाँ विकसित कीं। स्थान-स्थानकी मिट्टीके अनुसार फसल-चक्र बनाये और जैव-विविधताओंको दृष्टिगतकर हजारों किस्में विकसित कीं। कृषि-कार्यमें सहायक रहे बैल और रोगी तथा बच्चों एवं बूढ़ोंकी सहारा बनीं गायें। सदियोंकी ऐसी परम्पराओंने गायसे दूध एवं घी प्राप्त किया, बैलोंसे खेतोंको परिष्कृत किया एवं देशमें शाकाहारको बढ़ाया। अनेक प्रकारकी विपदाएँ आयीं—कभी प्राकृतिक तो कभी राजनैतिक, परंतु गोवंश कभी उपेक्षित नहीं रहा, यह सतत पल्लवित-पुष्पित होता रहा। बैल कृषिके साथ ही परिवहनमें भी प्रयोग किये जाते रहे। मुख्य बात यह थी कि गोवंशके साथ पवित्रता एवं श्रद्धा-भक्तिका भाव पुष्ट था। **'कृषिगौरक्ष्य-वाणिज्यम्'** के उद्‌बोधनसे भारतीय अर्थव्यवस्थाको पूर्णता प्राप्त हुई। तब पर्यावरण प्रदूषणरहित था। पौष्टिक चारा पशुधनको सुलभ था। चारागाह तथा गोचर-भूमि पर्याप्त थी। भारत देश कृषि-प्रधान रहा है। मुगलकालतक किसानकी समृद्धि पशुधन, गोधनकी उपलब्धतासे आँकी जाती रही। पुरातन कालमें गोधन राजाकी महत्ताको दर्शाता था। गोधनकी बहुलता सम्पन्नता एवं समृद्धिकी परिचायिका थी। गोकुलके राजा नन्दके पास नौ लाख गायें थीं, तो वृषभानुके पास बारह लाख।

कालान्तरमें देश-कालकी परिस्थितियोंने करवट ली। पश्चिमी लोग यहाँपर आये, कोलम्बस नामक यात्री गाय तथा गन्ना साथ लेकर गया, जिनकी संततिसे अमेरिका, इंग्लैण्ड, डेनमार्क, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि देशोंने यूरोपीय साझा बाजारमें अपनी साख स्थापित की। परंतु हमारे देशमें 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के प्रादुर्भावसे अंग्रेजोंके कूटनीतिक क्रिया-कलापों तथा किसानोंपर जमींदारोंके माध्यमसे कराये गये अत्याचारों और मांसाहारकी बढ़ती प्रवृत्तिके कारण किसान शोषित हुए। किसानोंकी विपन्नतासे पशु लावारिस बने एवं उनका वध होने लगा। स्वतन्त्र भारतके संविधानके अनुच्छेद ४८ के तहत कृषि एवं पशुपालनको सुदृढ़ करनेके निमित्त गोवंशके वधपर रोक लगानेके प्रयास किये गये, परंतु यह प्रयास आंशिक रहा। अनुपयोगी पशुओंके साथ ही उपयोगी पशु भी कटने लगे। किसान क्रमशः गरीब होते गये। रासायनिक खादों, कीटनाशकोंका उपयोग बढ़नेसे एवं कृषिका मशीनीकरण होनेसे गोवंशका प्रयोग कम हो गया, जिससे अनुपयोगी मानकर उनका वध किया जाने लगा। फिर कृषिके 'व्यवसायीकरण' तथा 'ग्लोबलाइजेशन'का दौर आया, जिसमें अधिक उत्पादकताकी होड़ लगी। रासायनिक खादोंका उपयोग एवं खाद्य पदार्थोंके प्रसंस्करणको प्राथमिकता मिली, जिससे न केवल खेती प्रदूषित हुई, बल्कि मांसाहारका प्रयोग बढ़ा, कृषिकी लागतें भी बढ़ीं, साथ ही कृषिमें विविध रसायनों एवं कीटनाशकोंके प्रयोगने खाद्यान्नको विषाक्त भी बनाया और जैव-विविधताओंपर वज्रपात किया। इस प्रक्रियाने मनुष्य, पशु एवं पक्षियोंके स्वास्थ्यपर विपरीत प्रभाव डाला। पशुओंसे अधिक उत्पादन लेनेके लिये विश्वमें अधिक उत्पादक समझी जानेवाली प्रजातियाँ, जिनकी हमारे देशमें अनुकूलन-क्षमता नहीं है, आयातित की गयीं और उनसे स्वदेशी प्रजातियोंमें संकरण किया जाने लगा। फलस्वरूप प्रथम पीढ़ीकी संततिमें तो उत्पादकता बढ़ी, परंतु द्वितीय पीढ़ी और उसके बादकी संततियोंमें विभिन्न प्रकारके रोग दिखायी देने लगे, जैसे कि नव-वत्सोंमें मृत्यु-दर अधिक हुई, बाँझपनकी समस्या जो पहले तीन प्रतिशततक थी बढ़कर बाईस प्रतिशततक हो गयी, विविध संक्रामक तथा पारजैविकीय रोगोंसे पशुओंमें मृत्युसे अधिक हानि होने लगी। ऐसी परिस्थितिमें न केवल प्रदेश वरन् देशके गो-वंशकी भारी हानि हुई, जैसा कि पशु-गणना वर्ष १९९७-९८ की स्थितिसे स्पष्ट है (विगत पाँच वर्षोंमें गोवंशकी संख्या २.३५ करोड़से घटकर २.०० करोड़ हो गयी, प्रति वर्ष ह्रासकी दर तीस प्रतिशत आँकी गयी

है)। कई स्वदेशी प्रजातियाँ विलुप्त होनेके कगारपर आ खड़ी हुई हैं।

देशके प्रबुद्ध नागरिकोंद्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् गोवंशको बचानेके लिये सतत प्रयास किये जाते रहे। गोवंश-रक्षणके निमित्त अनेक आन्दोलन हुए, यहाँतक कि भारत-सरकारके कृषि-मन्त्रीने इनकी उपादेयताको माना और कहा कि पशुधनसे सत्तर लाख टन पेट्रोलियमकी बचत, साठ अरब रुपयोंका दूध, तीस अरब रुपयोंकी जैविक खाद, बीस करोड़ रुपयोंकी रसोई-गैस वर्ष १९९४ में प्राप्त हुई है (५ मार्च १९९४ को पशु-ऊर्जा-सम्मेलनमें दिया गया वक्तव्य)। फिर भी गो-वधपर पूर्ण प्रतिबन्धकी कार्यवाही प्रतीक्षित रही। उत्तर प्रदेश सरकारद्वारा इस प्रकरणपर समुचित कदम उठाते हुए सम्पूर्ण प्रदेशमें गोवंशकी हत्याको पूर्णरूपसे प्रतिबन्धित कर दिया गया है, पशुओंपर होनेवाले अत्याचारोंकी रोकथामके लिये कड़े प्रयास किये जा रहे हैं ताकि गोवंशका क्षरण न होने पाये।

स्वदेशी पशु-प्रजातियों, विशेषकर गोवंशके संरक्षण एवं विकासहेतु योजनाएँ प्रारम्भ की गयी हैं। विश्व बैंकके 'स्विस डेवलपमेंट कोऑपरेशन' तथा 'कृषि-विविधीकरण परियोजना'के माध्यमसे ऐसे कार्यक्रमोंको किसानोंतक पहुँचाया जा रहा है, जिससे किसान अधिक जागरूक हो सकें और गोवंशके संरक्षणमें सक्रियतासे सहभागी बनें। केन्द्र सरकारके 'नेशनल प्रोजेक्ट ऑन कैटिल एण्ड बफैलो ब्रीडिंग' के माध्यमसे इस निमित्त संसाधनोंके विकास और प्रजनन-सम्बन्धी निवेशोंकी नियमित आपूर्ति सुनिश्चित करायी जा रही है।

स्वदेशी प्रजातिके गोवंशके पशु प्रथमतः कम उत्पादक दिखायी देते हैं, परंतु इनके समग्र गुण आकलित करनेपर इनकी विशिष्टताएँ स्थानीय प्रचलित कृषि-प्रणाली (फार्मिंग सिस्टम)-में अधिक उपयोगी पायी गयी है, क्योंकि—

—स्वदेशी गोवंशके पशु स्थानीय जलवायुके पूर्ण अनुकूल होते हैं।

—स्वदेशी गोवंशके पशु प्रत्येक क्षेत्रमें सुलभ चारा-दानाका उपयोग कर भरपूर उत्पादन देते हैं और स्वदेशी गोवंशका दुग्ध कहीं अधिक पौष्टिक तथा गुणकारी होता है।

—स्वदेशी गोवंशके पशुओंके रख-रखावपर अपेक्षाकृत कम लागत आती है।

—स्वदेशी गोवंशके पशुओंमें कई संक्रामक रोग एवं किसी प्रकारके अन्य प्रकोप नहींके बराबर होते हैं।

—स्वदेशी गोवंशके पशुओंमें बाँझपन-जैसी समस्याएँ तथा वत्सोंमें मृत्युदर प्रायः बहुत कम होती है।

—स्वदेशी गोवंशकी ब्यातोंकी संख्या विदेशी प्रजातियोंकी ब्यातोंसे कहीं अधिक होती है तथा स्वदेशी बैलकी कृषि-कार्यमें पूर्ण उपयोगिता होती है।

—स्वदेशी गोवंशके एक पशुके रख-रखावपर होनेवाला व्यय उनसे प्राप्त गोमय, गोमूत्र तथा उनकी अन्य उपादेयताके सापेक्ष बहुत ही कम आता है।

—स्वदेशी गोवंशकी प्रजातियाँ प्रकृतिकी धरोहर हैं। प्रकृतिकी सभी विरासतोंका संरक्षण एवं विकास नैतिक कर्तव्य है।

—प्रत्येक स्वदेशी गोवंश-प्रजातिकी अपनी विशिष्टताएँ होती हैं, जो उनमें सदियोंके अन्तरालमें विभिन्न प्राकृतिक एवं मनुष्योंकी आवश्यकताओंके सापेक्ष विकसित हुई होती हैं।

—स्वदेशी प्रजातियाँ पशु-प्रजनन-कार्यक्रमोंकी रीढ़ होती हैं, जिनके सापेक्ष पशुके आनुवांशिक क्षमताओंमें विकासके दरका तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सकता है।

अतएव आवश्यकता है कि किसान इन तथ्योंका आकलन करें और गोवंशके विकासहेतु आत्म-मन्थनके उपरान्त सक्रिय हो सहभागी बनें। इस संदर्भमें क्षेत्रीय गोशालाओंका विकास तथा गोसदनोंको अपेक्षित सहयोग दिये जानेकी भी आवश्यकता होगी, क्योंकि गोशाला ग्राम्याञ्चलका एक प्रशिक्षण माडल सिद्ध हो सकता है, जहाँ किसान सुगमतासे पहुँचकर उनपर अपनायी जा रही तकनीकोंका अध्ययन करके स्वयं भी कृषिके साथ ही पशुपालनके कार्योंमें यथेष्ट उन्नति सुनिश्चित कर सकेंगे। गोशालाओंकी समस्त व्यवस्थामें शिक्षा, स्वरोजगार, पशुधन-विकास, स्वस्थ कृषि, प्रदूषणमुक्त जीवन-शैली, संतुलित आहारकी परिकल्पना, व्यवसायिकता तथा ऊर्जाके एक ही स्थलपर समन्वयकी अभिप्रेरणा प्राप्त होती है।

भारतीय दर्शनकी प्रतीक गाय इस प्रकार न केवल सृष्टिके समयसे ही भारतीय जीवनमें रची-बसी है, वरन् भारतीयोंसे भी समग्ररूपसे जुड़ी हुई है। विश्वके सकल क्षेत्रफलका २.५ प्रतिशत क्षेत्र भारतमें है और विश्वकी जनसंख्याके सापेक्ष सोलह प्रतिशत लोग यहाँ निवास करते हैं, इस तुलनाके विरुद्ध सत्तर प्रतिशत यहाँके निवासी किसान हैं। यदि देशके सभी किसान कृषिके मशीनीकरणके परिणामस्वरूप ट्रैक्टरका उपयोग करने लगें तो इनमें प्रयुक्त होनेवाले डीजलहेतु भारी मात्रामें विदेशी मुद्रा व्यय करके डीजल आयात करना होगा, जो कि भारत-जैसे राष्ट्रहेतु किसी प्रकार उपयुक्त नहीं है। पुनश्च, ट्रैक्टरसे जुताई किये जानेपर भूमिकी उर्वराशक्तिका भी क्षरण होता है, कृषिमें अधिक रासायनिक उर्वरकोंकी जरूरत पड़ती है, संयन्त्रोंके रख-रखावपर अधिक व्यय करना होता है जो कि किसी भी दृष्टिसे किसानोंके हितमें नहीं हो सकता तथा ऐसे समस्त व्यय बैलद्वारा खेती किये जानेपर अपेक्षाकृत कम होते हैं। साथ ही गोबरकी खाद प्रयोग किये जानेसे रासायनिक खादोंकी भी कम जरूरत होगी, जिससे कृषि न केवल सस्ती वरन् संतुलित भी हो सकेगी। ट्रैक्टरों तथा रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकोंके बढ़ते हुए प्रयोग— जो ग्रामीण वातावरणको विषाक्त एवं निरन्तर प्रदूषित कर रहे हैं—से भी छुटकारा मिल सकेगा और उक्त परिवेश स्वस्थ बना रहेगा।

गोबरकी खाद स्थान-स्थानपर खेतीके लिये अनुपयुक्त ऊसरके सुधारहेतु भी प्रयुक्त की जा रही है और इसमें लगभग शत-प्रतिशत सफलता मिल रही है।

गोमूत्रका प्रयोग कृषि-कार्योंमें ऑर्गेनिक कीटनाशकके रूपमें क्रमशः प्रसारित हो रहा है जो एक बार पुनः रासायनिक कीटनाशकोंकी तुलनामें सस्ता तथा सर्वत्र सुलभ और वातावरणीय प्रदूषणको दूर रखनेवाला सिद्ध हो रहा है।

पञ्चगव्यकी महत्ता आदिकालसे स्थापित रही है। वर्तमान चिकित्सा-प्रणालीमें पञ्चगव्यके प्रमुख घटक गोमूत्रकी उपादेयता भी कम नहीं है। गो-अनुसंधान-कार्यक्रमोंसे जुड़े विभिन्न संस्थानोंद्वारा गोमूत्र एवं पञ्चगव्यसे मनुष्यकी सभी बीमारियोंकी औषधियाँ विकसित करके उपयोगमें लायी जा रही हैं।

अतः गोवंशकी स्वदेशी प्रजातियोंका संरक्षण एवं विकास आजके सामाजिक तथा आर्थिक परिदृश्यमें एक ऐसी अपरिहार्यता है, जिससे इनकी उपादेयताके प्रसारके साथ किसानोंकी उन्नति एवं स्वरोजगारके नये अवसर सृजित होंगे।

समस्त ग्रामीण बन्धु तथा शहरोंमें रहनेवाले वे व्यक्ति जो अपने घरपर गो-पालनकी व्यवस्था कर सकते हैं, उन्हें अवश्य गो-पालन करना चाहिये; ताकि पौष्टिक आहारके साथ गोबर, गोमूत्रके रूपमें खाद, कीटनाशक औषधि एवं ऊर्जा प्राप्त हो सके तथा गौके सहज वात्सल्य एवं गो-सेवाके पुण्यसे जीवन सार्थक हो सके। अन्य व्यक्तियोंको भी निकटवर्ती गोशालाओंमें जाकर समय-समयपर गो-सेवा करनी चाहिये। सभीको गो-वंशकी तस्करी तथा गो-वध रोकनेका पूर्ण प्रयास करना चाहिये।

परमपूज्य ब्रह्मर्षि श्रीदेवरहा बाबाके अमृत वचन हैं—

''गायके पृष्ठभागमें ब्रह्माजीका, गलेमें विष्णुभगवान्‌का, मुखमें शिवजीका और रोम-रोममें ऋषि-महर्षि, देवताओंका वास है तथा आठ ऐश्वर्योंको लेकर लक्ष्मी माता गायके गोबरमें बसती हैं। गायकी बहुत बड़ी महिमा है। जहाँ गायके चरण पड़ते हैं, वहाँ देवताओंका वास रहता है। भारतकी गरीबी दूर करनेके लिये, भारतको समृद्धिशाली बनानेके लिये गोरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, अंग्रेज—कोई भी हों, यानी सबको गोरक्षामें तत्पर हो जाना चाहिये।

मैं प्रेमपूर्वक बतलाता हूँ कि अब सब भारतका कलंक मिट जायगा, अब गो-वध बंद हो जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं।''

सम्पूर्ण पापोंके नाशका उपाय

चान्द्रायणसहस्रं तु यश्चरेत्कायशोधनम्।
पिबेद्यश्चापि गङ्गाम्भः समौ स्यातां न वा समौ॥

अपने पापोंकी शुद्धिके लिये एक हजार चान्द्रायण-व्रत किये जायँ तो भी वे गङ्गाजल-पानके पुण्यके समान नहीं होते अर्थात् एक हजार चान्द्रायणव्रतसे भी बढ़कर गङ्गाजल पीनेकी विशेष महिमा है।

भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात्।
गङ्गाया दर्शनात्तद्वत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

जैसे गरुडको देखते ही सभी सर्प विषरहित हो जाते हैं, ऐसे ही गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे मनुष्य सभी पापोंसे छूट जाता है।

स्नानमात्रेण गङ्गायां पापं ब्रह्मवधोद्भवम्।
दुराधर्षं कथं याति चिन्तयेद् यो वदेदपि॥
तस्याहं प्रददे पापं ब्रह्मकोटिवधोद्भवम्।
स्तुतिवादमिमं मत्वा कुम्भीपाकेषु जायते॥
आकल्पं नरकं भुक्त्वा ततो जायेत गर्दभः।

यदि कोई मनुष्य 'गङ्गाके स्नानमात्रसे कोई ब्रह्महत्यादि पापोंसे कैसे छूट सकता है?'—इस प्रकार वाणीसे बोल देता है अथवा चिन्तन भी कर लेता है तो उसे करोड़ ब्रह्महत्याका पाप लगता है। गङ्गाजीकी महिमाको अर्थवाद मानकर इस प्रकार शंका करनेके फलस्वरूप वह कल्पपर्यन्त कुम्भीपाक नरकको भोगकर फिर गधेकी योनिको प्राप्त होता है।

पापानां पापहन्तृत्वं स्वर्गमोक्षैकहेतुता।
स्वभाव एव गङ्गायाः शैत्ये शीतरुचिर्यथा॥

जैसे शीतकालमें स्वाभाविक ही शीत लगता है, वैसे ही गङ्गाजीसे स्वाभाविक ही पापोंका नाश तथा स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है।

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात्परः।
..................इत्येवमाह पितामहः॥

गङ्गासे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है और भगवान् केशवसे बढ़कर कोई देव नहीं है—ऐसा पितामह भीष्मजीने कहा है।

सर्वं कृतयुगे तीर्थं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम्।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गैव केवलम्॥

सत्ययुगमें सब तीर्थ समान थे। त्रेतायुगमें पुष्करराजकी प्रधानता थी। द्वापरमें कुरुक्षेत्रकी प्रधानता थी। कलियुगमें तो केवल गङ्गाजीकी ही प्रधानता है।

येनाकार्यं शतं कृत्वा कृतं गङ्गैव सेवनम्।
तत्सर्वं तस्य गङ्गाम्भो दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥

जिसने पहले सैकड़ों पाप कर लिये, पर शेष जीवनमें वह गङ्गाजीका ही सेवन करता है, उसके सभी पाप अग्निमें काठकी तरह भस्म हो जाते हैं।

(प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)

[संकलनकर्ता—नागौरवाले पं० श्रीनरसीजी महाराज]

विविध नीतियोंके आदर्श चरित्र—

भारतीय राजर्षियोंके आदर्श—महाराज मुचुकुन्द

सूर्यवंशमें इक्ष्वाकुकुल बड़ा ही प्रसिद्ध है, जिसमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामरूपसे अवतीर्ण हुए। इसी वंशमें महाराज मान्धाता-जैसे महान् प्रतापशाली राजा हुए। महाराज मुचुकुन्द उन्हीं मान्धाताके पुत्र थे। ये सम्पूर्ण पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे। बल-पराक्रममें ये इतने बढ़े-चढ़े थे कि पृथ्वीके राजाओंकी तो बात ही क्या, देवराज इन्द्र भी इनकी सहायताके लिये लालायित रहते थे।

एक बार असुरोंने देवताओंको दबा लिया, देवता बड़े दुःखी हुए। उनके पास कोई योग्य सेनापति नहीं था, अतः उन्होंने महाराज मुचुकुन्दसे सहायताकी प्रार्थना की। महाराजने देवताओंकी प्रार्थना स्वीकार की और बहुत समयतक उनकी रक्षाके लिये असुरोंसे लड़ते रहे। बहुत कालके पश्चात् देवताओंको शिवजीके पुत्र स्वामिकार्तिकेयजी योग्य सेनापतिके रूपमें मिल गये। तब देवराज इन्द्रने महाराज मुचुकुन्दसे कहा—'राजन्! आपने हमारी बड़ी सेवा की, अपने स्त्री-पुत्रोंको छोड़कर आप हमारी रक्षामें लग गये।

यहाँ स्वर्गमें जिसे एक वर्ष कहते हैं, पृथ्वीपर उतने ही समयको तीन सौ साठ वर्ष कहते हैं। आप हजारों वर्षोंसे यहाँ हैं। अत: अब आपकी राजधानीका कहीं पता भी नहीं है; आपके परिवारवाले सब कालके गालमें चले गये। हम आपपर बहुत प्रसन्न हैं। मोक्षको छोड़कर आप जो कुछ भी वरदान माँगना चाहें, माँग लें; क्योंकि मोक्ष देना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।'

महाराजको मानवीय बुद्धिने दबा लिया। स्वर्गमें वे सोये नहीं थे। लड़ते-लड़ते बहुत थक भी गये थे। अत: उन्होंने कहा—'देवराज! मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मैं पेटभर सो लूँ, कोई भी मेरी निद्रामें विघ्न न डाले। जो मेरी निद्रा भंग करे, वह तुरंत भस्म हो जाय।'

देवराजने कहा—'ऐसा ही होगा, आप पृथ्वीपर जाकर शयन कीजिये। जो आपको जगायेगा, वह तुरंत भस्म हो जायगा।' ऐसा वरदान पाकर महाराज मुचुकुन्द भारतवर्षमें आकर एक गुफामें सो गये। सोते-सोते उन्हें कई युग बीत गये। द्वापर आ गया, भगवान्ने यदुवंशमें अवतार लिया। उसी समय कालयवनने मथुराको घेर लिया। उसे अपने-आप ही मरवानेकी नीयतसे और महाराज मुचुकुन्दपर कृपा करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कालयवनके सामनेसे छिपकर भागे। कालयवनको अपने बलका बड़ा घमण्ड था, वह भी भगवान्को ललकारता हुआ उनके पीछे पैदल ही भागा। भागते-भागते भगवान् उस गुफामें घुसकर छिप गये, जहाँ महाराज मुचुकुन्द सो रहे थे। उनको सोते देखकर

भगवान्ने अपना पीताम्बर धीरेसे उन्हें ओढ़ा दिया और आप छिपकर तमाशा देखने लगे; क्योंकि उन्हें छिपकर तमाशा देखनेमें बड़ा आनन्द आता है। द्रष्टा ही जो ठहरे।

कालयवन बलके अभिमानमें भरा हुआ गुफामें आया और महाराज मुचुकुन्दको ही भगवान् श्रीकृष्ण समझकर जोरोंसे दुपट्टा खींचकर जगाने लगा। महाराज जल्दीसे उठे। सामने कालयवन खड़ा था। दृष्टि पड़ते ही वहीं जलकर भस्म हो गया। अब तो महाराज इधर-उधर देखने लगे। भगवान्के तेजसे सम्पूर्ण गुफा जगमगा रही थी। उन्होंने नवजलधरश्याम पीतकौशेयवासा वनमालीको सामने मन्द-मन्द मुसकराते हुए देखा। देखते ही वे अवाक् रह गये। अपना परिचय दिया और प्रभुका परिचय पूछा। गर्गाचार्यके वचन स्मरण हो आये। ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, यह समझकर वे भगवान्के चरणोंपर लोट-पोट हो गये।

भगवान्ने उन्हें उठाया, छातीसे चिपटाया, भाँति-भाँतिके वरोंका प्रलोभन दिया, किंतु वे संसारी-पदार्थोंकी निःसारता समझ चुके थे। अत: उन्होंने कोई भी सांसारिक वर नहीं माँगा। उन्होंने यही कहा—'प्रभो! मुझे देना हो तो अपनी भक्ति दीजिये, जिससे मैं सच्ची लगनके साथ भलीभाँति आपकी उपासना कर सकूँ; मैं श्रीचरणोंकी भलीभाँति भक्ति कर सकूँ, ऐसा वरदान दीजिये।' प्रभु तो मुक्तिदाता हैं, मुकुन्द हैं। उनके दर्शनोंके बाद फिर जन्म-मरण कहाँ! किंतु महाराजने अभीतक भलीभाँति उपासना नहीं की थी और वे मुक्तिसे भी बढ़कर उपासनाको चाहते थे। अत: भगवान्ने कहा—'अब तुम ब्राह्मण तथा सर्व-जीवोंमें समान दृष्टिवाले होओगे, तब जी खोलकर मेरी अनन्य उपासना करना। तुम मेरे तो बन ही गये। तुम्हारी उपासना करनेकी जो अभिलाषा है, उसके लिये तुम्हें विशुद्ध ब्राह्मणवंशमें जन्म लेना पड़ेगा और वहाँ तुम उपासना-रसका भलीभाँति आस्वादन कर सकोगे।' वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और महाराज मुचुकुन्द ब्राह्मण-जन्ममें उपासना करके अन्तमें प्रभुके साथ अनन्य भावसे मिल गये।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

भगवत्प्रेम और अनुकूलताकी खोज

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप अपनेको भगवान्का प्रेमी भी मानते हैं और सांसारिक सुविधाओं तथा अनुकूलताओंके लिये इतने अधिक चिन्तित भी हैं, यह आश्चर्यकी बात है। संसारके दुःखोंको तो वह बुद्धिमान् मनुष्य भी धीरजके साथ सह लेता है जो उन्हें अपने ही किये हुए कर्मोका अनिवार्य फल मानता है। वह भी समझता है कि प्रारब्धके अनुसार जो फल-भोग प्राप्त होता है, उससे कर्मका ऋण ही उतरता है। इसमें चिन्ताकी कोई बात नहीं है। उससे आगे बढ़कर भगवान्का वह विश्वासी पुरुष है जो प्रत्येक फलको भगवान्के मङ्गलमय विधानके द्वारा निर्मित मानता है और विपरीत प्रतीत होनेपर भी विश्वासके बलपर उसका मङ्गलमय परिणाम मानकर प्रसन्न होता है। उससे आगे बढ़ा हुआ वह प्रेमी है, जो किसी घटनाको प्रतिकूल तो समझता है, परंतु यह मानकर प्रसन्न होता है कि इसमें मुझे तो दुःख होगा पर मेरे प्रियतम भगवान्को सुख होगा। ऐसा न होता तो भगवान् इस प्रकार करते ही क्यों? भगवान् जिस बातमें सुख समझें, वही मेरे लिये सुख है, इसलिये मैं सुखी हूँ। इससे भी आगे बढ़ा हुआ वह सच्चा प्रेमी है जिसको दुःख होता ही नहीं, जो प्रत्येक फलमें भगवान्का स्पर्श पाकर सुखी ही होता रहता है। प्रियतम भगवान् जो कुछ करते हैं, उसमें उसे प्रतिकूलताकी कल्पना ही नहीं होती। वह पद-पदपर सुखका ही अनुभव करता है। भगवान् जो कुछ करते हैं, उसे छोड़कर किसी भी सांसारिक सुविधा और अनुकूलताकी ओर उसका मन कभी जाता ही नहीं। ऐसा प्रेमी कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। आप अपने लिये कहते हैं कि 'मैं भगवान्के प्रेमके अतिरिक्त और कुछ भी न जानता हूँ और न चाहता हूँ।' फिर तो सांसारिक सुविधा और अनुकूलताको जाननेका भी प्रश्न नहीं उठना चाहिये।

अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप प्रेमके स्वरूपको समझिये और सदा आनन्दमग्न रहिये। जहाँ प्रेम होगा वहाँ आनन्द ही रहेगा। जितनी-जितनी प्रेमकी कमी होगी, प्रेमके स्थानपर कोई अन्य वस्तु होगी, उतना ही आनन्दका अभाव होगा। यह सिद्धान्त है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

मोहका स्वरूप

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। आपने अपनी पत्नी, घर, व्यापार-उपार्जन, घरमें जेठानी-देवरानी, सास-बहू, छोटे-बड़े भाई, धन, महँगाई आदिका वर्णन करके सबको प्रतिकूल बताया और अन्तमें लिखा कि 'संसारसे हट गया हो मोह जिसका। उद्देश्य हो इसी शरीरद्वारा ईश्वर-प्राप्ति—मोक्ष...। उस मनुष्यका क्या कर्तव्य है?' इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि आपने जिन सारी प्रतिकूलताओंका वर्णन किया है, वही तो संसारका स्वरूप है। उससे मोह हट जाना ही उससे छूटकर इसी शरीरद्वारा ईश्वर-प्राप्तिका उपाय है। आप लिखते हैं 'मोह हट गया।' मोह हट गया तो फिर इतनी प्रतिकूलताके दर्शन कैसे होते हैं? संसारको सत्य मानकर उसमें अनुकूलताकी खोज करना तो मोहका ही कार्य है—वस्तुतः यही मोह है। मेरी समझसे आपका मोह नहीं हटा है, प्रतिकूलतासे डरकर आप उससे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। सो यह निश्चय मानिये कि जबतक आप संसारको इसी रूपमें सत्य मानेंगे और भोगोंमें सुख है, ऐसा समझते रहेंगे, तबतक प्रतिकूलतासे पिण्ड छूटेगा ही नहीं। मोहभङ्ग यथार्थ होना चाहिये। यह मोह ही सारी प्रतिकूलताओंका मूल है, इसीसे सारी आधि-व्याधि उत्पन्न होती है और जीवको दुःख भोगनेके लिये बाध्य होना पड़ता है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

इस मोहका नाश होता है श्रीभगवान्की रहस्यमयी लीलाकथाओंको सुनने-समझनेसे और भगवान्के सच्चे भावोंकी कथा प्राप्त होती है—संतोंकी अनुभवयुक्त वाणीसे। अतएव जितना और जैसे हो सके, संतोंके वचनोंका मनन कीजिये—सत्सङ्ग कीजिये। तब असली मोहका नाश होगा और फिर कर्तव्यका प्रश्न रह ही नहीं जायगा। मोह मिटा कि भगवान्में प्रेम हुआ। प्रेम होनेपर अपने-आप ही

जीवन उसी मार्गमें लग जायगा और सब ओर अनुकूलता और सुखका दर्शन होने लगेगा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

शेष भगवत्कृपा।

(३)

कुसङ्गका त्याग तुरंत कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपकी लिखी बातें यदि सत्य हैं तो बड़ी भयानक हैं। आजकल छात्र-छात्रा कितना अनर्थ कर रहे हैं, छात्रोंकी यात्राओंमें क्या होता है इसका पापपूर्ण चित्र है। आप जो कुछ कर रहे हैं यह आपके लिये बड़ा ही अशुभ है। इसका परिणाम बहुत ही बुरा होगा। आप जिन दुराचारी, व्यभिचारी छात्रोंको अपना अन्तरङ्ग मित्र मानते हैं और जिन छात्राओंको अपनी सङ्गिनी मानकर जीवनको कलङ्कित करते हैं, वे आपके शत्रु हैं और उनके साथ इस प्रकार पापके गढ़ेमें गिरकर उनके साथ भी आप शत्रुताका ही व्यवहार कर रहे हैं। आप सावधान हो जाइये। इस कुसङ्गको तुरंत छोड़ दीजिये। आपके भाई आपसे बहुत ठीक कहते हैं। आप कॉलेज छोड़ दीजिये। दूकानपर भाईके पास बैठिये। ऐसे पापके अड्डेमें रहनेसे तो हानि-ही-हानि है। जब आप 'कल्याण' पढ़ते हैं तब आपको अपने कुकृत्योंपर पश्चात्ताप होता है और आप उनसे छूटनेकी इच्छा करते हैं, पर साथियोंके मिलनेपर फिर वैसे ही कुकर्मोंमें लग जाते हैं—सो पश्चात्ताप होना तो बहुत ठीक है, परंतु जबतक कुकर्म बनते हैं, तबतक असली पश्चात्ताप कहाँ है? वास्तविक पश्चात्ताप वही है जो पुनः वैसा कुकर्म न करनेका दृढ़ निश्चय ही नहीं करा दे वरन् उसे असम्भव कर दे। भगवान्से प्रार्थना कीजिये, मनको दृढ़ बनाइये, बार-बार सत्साहित्यका अध्ययन कीजिये। कुकर्मी साथियोंका परित्याग कीजिये। छात्राओंको तो देखना भी बड़ा पाप मानिये। उनसे कभी बोलनेकी भी इच्छा मत कीजिये। सिनेमा छोड़िये और भगवान्के कृपा-बलपर दृढ़प्रतिज्ञ होकर पापसे छूट जाइये। यह असम्भव नहीं है। भगवत्कृपा और उसके बलपर आपके सच्चे प्रयत्नसे यह पाप छूट जायगा। कुसङ्ग किसी प्रकारका हो, उसका त्याग तुरंत आवश्यक है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

पतिका अत्याचार

मान्य बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी दुःख-कहानी पढ़कर बड़ा खेद हुआ। वस्तुतः वह पुरुष बड़ा ही भाग्यहीन और पाप-जीवन है जो अपनी निर्दोष पत्नीपर अत्याचार करता है। गाली देना और मारना तो बहुत बड़ा अपराध है। अपराध तो असत्कार करना भी है। एक धर्मप्राण राजाको केवल एक इसी पापके कारण नरकका हाहाकार सुनना पड़ा था कि उन्होंने अपने जीवनमें एक बार पत्नीका तिरस्कार किया था। जैसे पतिकी प्रसन्नता-सम्पादन पत्नीका कर्तव्य है, वैसे ही पत्नीको निर्दोष सुख पहुँचाना पतिका धर्म है। पति इस धर्मसे वञ्चित होता है तो वह घोर नरकका भागी होता है। जिस घरमें दुःखके भारसे पीड़ित होकर स्त्री रोया करती है वह घर नष्ट हो जाता है। यह मनुमहाराज कहते हैं। अतएव मुझे तो आपके पतिदेवसे यही कहना है कि वे अपने-आपको सँभालें, केवल ग्रन्थोंके अध्ययनसे कुछ नहीं होता, वास्तविक लाभ तो आचरणसे होता है। वे यदि इसी प्रकार क्रोधके वश होकर अत्याचार करते रहेंगे तो उसका परिणाम उनके लिये लोक-परलोकमें बड़ा ही दुःखदायी होगा। साथ ही आपसे भी निवेदन है कि आप अपने स्वामीको उनकी होनेवाली इस दुर्दशासे बचानेका शुभ प्रयत्न करें। आप उनके लिये प्रेमयुक्त शुभ भावना करें। उनका स्वभाव बदलकर सात्त्विक हो जाय, इसके लिये विश्वासपूर्वक भगवान्से प्रार्थना करें। अपनी तपस्यासे भगवान्को संतुष्ट करके इनके अपराधको उनसे क्षमा करावें। भगवन्नामस्मरण और भगवत्प्रार्थना ही आपके सुख-शान्तिके लिये अमोघ उपाय है। शेष भगवत्कृपा।

व्रतोत्सव-पर्व

ज्येष्ठ कृष्णपक्ष (२७-५-२००२ से १०-६-२००२ तक) सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	सोम	ज्येष्ठा	२७ मई	धनुके चन्द्रमा रात्रि २-४५ बजे, ज्येष्ठमासमें आटेसे ब्रह्माकी मूर्ति बनाकर वस्त्र आदिके द्वारा पूजन करनेसे सूर्यलोककी प्राप्ति, ज्येष्ठा नक्षत्र रात्रि २-४५ बजेतक
द्वितीया	भौम	मूल	२८ "	द्वितीया तिथि दिन २-५१ बजेतक, मूल नक्षत्र रात्रि २-४१ बजेतक, भद्रा रात्रि २-३६ बजेसे
तृतीया	बुध	पू०षा०	२९ "	भद्रा दिन २-१९ बजेतक, तृतीया तिथि दिन २-१९ बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ९-४३ बजे
चतुर्थी	गुरु	उ०षा०	३० "	मकरके चन्द्रमा दिन ९-२२ बजे, श्री माँ आनन्दमयी-जयन्ती, यायिजययोग दिन २-१८ बजेसे रात्रि शेष ४-०५ बजेतक तदुपरि रवियोग, उत्तराषाढ़ नक्षत्र रात्रि शेष ४-०५ बजेतक
पञ्चमी	शुक्र	श्रवण	३१ "	रवियोगसर्वार्थसिद्धियोग सायं ६-४४ बजेतक
षष्ठी	शनि	श्रवण	१ जून	कुम्भके चन्द्रमा सायं ६-२८ बजे, द्विपुष्करयोग तथा यायिजययोग दिन ३-४४ बजेसे, श्रवण नक्षत्र प्रातः ५-३१ बजेतक, पञ्चक आरम्भ प्रातः ५-३२ बजेसे, भद्रा दिन ३-४४ बजेसे रात्रि शेष ४-२६ बजेतक
सप्तमी	रवि	धनिष्ठा	२ "	द्विपुष्करयोग तथा यायिजययोग प्रातः ७-२६ बजेतक, धनिष्ठा नक्षत्र प्रातः ७-२६ बजेतक
अष्टमी	सोम	शतभिषा	३ "	श्रीशीतलाष्टमीव्रत (श्रीशीतलाजीका पूजन एवं बासी भोजन), मृत्युबाण रात्रि १-२६ बजेसे
नवमी	भौम	पू०भा०	४ "	मीनके चन्द्रमा प्रातः ५-३४ बजे, मृत्युबाण रात्रि २-३७ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग दिन १२-१३ बजेसे
दशमी	बुध	उ०भा०	५ "	विश्वपर्यावरणदिवस, भद्रा दिन ९-५४ बजेसे रात्रि १०-५५ बजेतक
एकादशी	गुरु	रेवती	६ "	मेषके चन्द्रमा सायं ५-२५ बजे, अचला एकादशीव्रत (सबका), यायिजययोग सायं ५-२४ बजेतक तदुपरि सर्वार्थसिद्धियोग, पञ्चक समाप्त सायं ५-२५ बजे, रेवती नक्षत्र सायं ५-२५ बजेतक
द्वादशी	शुक्र	अश्विनी	७ "	सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ७-४४ बजेतक, अश्विनी नक्षत्र रात्रि ७-४४ बजेतक, द्वादशी तिथि रात्रि २-२७ बजेतक
त्रयोदशी	शनि	भरणी	८ "	वृषके चन्द्रमा रात्रि शेष ४ बजे, शनिप्रदोषव्रत (पुत्रकी कामनाके लिये आज ही व्रतका आरम्भ), वटसावित्रीव्रतका आरम्भ (तीन दिनतक), मृगशिरा नक्षत्रके सूर्य दिन २-३५ बजे, यायिजययोग रात्रि ९-४४ बजेतक, भद्रा रात्रि शेष ३-४३ बजेसे
चतुर्दशी	रवि	कृत्तिका	९ "	भद्रा दिन ४-०७ बजेतक, मासशिवरात्रिव्रत, वटसावित्रीव्रत (दूसरा दिन), चतुर्दशी तिथि रात्रि शेष ४-३१ बजेतक
अमावास्या	सोम	रोहिणी	१० "	स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, सोमवती अमावास्या, वटसावित्रीव्रत (तीसरा दिन), सर्वार्थामृतसिद्धियोग रात्रि १२-२१ बजेतक, अमावास्या तिथि रात्रि शेष ४-४९ बजेतक

ज्येष्ठ शुक्लपक्ष (११-६-२००२ से २४-६-२००२ तक) सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	भौम	मृगशिरा	११ जून	मिथुनके चन्द्रमा दिन १२-३८ बजे, दशाश्वमेध-स्नान आरम्भ (काशी), तिथि दशमी दिन गुरुवार दिनाङ्क २० जूनतक, वृद्धिके लिये 'गङ्गास्तोत्र' का नित्यपाठ, करवीरव्रत
द्वितीया	बुध	आर्द्रा	१२ "	चन्द्रदर्शन, सोपपदा द्वितीया, वेदारम्भानध्याय, दुर्लभसन्धिकरयोग रात्रि १२-५९ बजेतक
तृतीया	गुरु	पुनर्वसु	१३ "	कर्कके चन्द्रमा सायं ६-४१ बजे, महाराणाप्रताप-जयन्ती, रम्भातृतीयाव्रत, मृत्युबाण दिन १२-२० बजेसे, सर्वार्थसिद्धियोग तथा यायिजययोग रात्रि १२-३५ बजेतक तदुपरि रवियोग
चतुर्थी	शुक्र	पुष्य	१४ "	वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, उमावतार चतुर्थी, मृत्युबाण दिन १-३५ बजेतक, गुरु अर्जुनदेव-शहीद-दिवस, रवियोग रात्रि ११-५० बजेतक, भद्रा दिन १-५२ बजेसे रात्रि १-०४ बजेतक
पञ्चमी	शनि	अश्लेषा	१५ "	सिंहके चन्द्रमा रात्रि १०-४४ बजे, सायन मिथुनराशिके सूर्य दिन २-५० बजे, पुण्यकाल सायं ६-४७ बजेतक, मन्दाकिनी-स्नान-वस्त्र-अन्न-दान, यायिजययोग रात्रि १०-४४ बजेतक तदुपरि रवियोग
षष्ठी	रवि	मघा	१६ "	स्कन्दषष्ठीव्रत, **सौर आषाढ़मास आरम्भ**, मृत्युबाण सायं ४-०७ बजेसे
सप्तमी	सोम	पू०फा०	१७ "	कन्याके चन्द्रमा रात्रि १-२४ बजे, मृत्युबाण सायं ५-२२ बजेतक, भद्रा सायं ६-४१ बजेसे
अष्टमी	भौम	उ०फा०	१८ "	भद्रा प्रातः ५-२६ बजेतक, शुक्लादेवीका पूजन (अष्टमी), रवियोग सायं ६-१२ बजेसे
नवमी	बुध	हस्त	१९ "	तुलाके चन्द्रमा रात्रि ३-४१ बजे, नवमीमें उपवास रहकर देवीकी पूजा, रवियोग सायं ६-४७ बजेतक
दशमी	गुरु	चित्रा	२० "	गङ्गादशहरा, आज (काशी) दशाश्वमेध तीर्थमें स्नान करके गङ्गापूजन, श्रीगङ्गाजन्म रात्रि २-५९ बजेसे रात्रि शेष ४-५४ बजेतक (वृषलग्नमें), सूर्योदय प्रातः ५-१३ बजेके पहले ही, श्रीगङ्गावतरण, आज ही श्रीसेतुबन्ध रामेश्वर-प्रतिष्ठा दिन, गङ्गास्तोत्रपाठ तथा दशाश्वमेध-स्नानका नियम समाप्त, रवियोग दिन २-५३ बजेतक तदुपरि यायिजययोग, भद्रा रात्रि १०-१० बजेसे
एकादशी	शुक्र	स्वाती	२१ "	भद्रा दिन ९ बजेतक, निर्जला एकादशीव्रत (सबका), भीमसेनी एकादशी, सायन कर्कराशिके सूर्यकी संक्रान्ति रात्रि १-४१ बजे
द्वादशी	शनि	विशाखा	२२ "	वृश्चिकके चन्द्रमा प्रातः ६-३१ बजे, राष्ट्रिय आषाढ़मास, एकादशीव्रतकी पारणा प्रातः ६-५४ बजेतक, शनिप्रदोषव्रत (पुत्रकी कामनाके लिये आजसे व्रतका आरम्भ), दाक्षिणात्य त्रिदिवसीय वटसावित्रीव्रत आरम्भ, गौतमेश्वरदर्शन, त्रिविक्रमपूजा, आर्द्रा नक्षत्रके सूर्य दिन ३-२३ बजे
त्रयोदशी	त्रयोदशी तिथिका क्षय			द्वादशी तिथि प्रातः ६-५४ बजेतक तदुपरि त्रयोदशी तिथि रात्रि शेष ५-०६ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ५-१३ बजे, सूर्यास्त ६-४७ बजे
चतुर्दशी	रवि	अनुराधा	२३ "	दाक्षिणात्य वटसावित्रीव्रत (दूसरा दिन), रवियोग दिन ११-१९ बजेसे, भद्रा रात्रि ३-४० बजेसे
पूर्णिमा	सोम	ज्येष्ठा	२४ "	भद्रा दिन ३-०७ बजेतक, धनुके चन्द्रमा दिन १०-४२ बजे, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, संत कबीर-जयन्ती, दाक्षिणात्य वटसावित्रीव्रत (तीसरा दिन) समाप्त, पूर्णिमा तिथि रात्रि २-३५ बजेतक

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बचानेवाली शक्तिके कई हाथ

हम नहीं जानते कि कौन-सी शक्तिने हमें बचाया और किसने क्रुद्ध होकर मारनेकी कोशिश की, पर मानना यही पड़ेगा कि बचानेवाली शक्तिके कई हाथ होते हैं। बात आश्विन शुक्ल 'श्रीदुर्गानवमी' २५ अक्टूबर २००१ की है। हमलोग कुलदेवीके पूजनके लिये अपनी कार लेकर प्रातः छः बजे भोपालसे शाजापुरके लिये रवाना हुए। कारमें मेरे अलावा मेरी पत्नी, बड़ी बहू और सवा माहकी नवजात बालिका थी। कार ड्राइवर चला रहा था। प्रातःका समय होनेसे सड़कपर वाहनोंकी आवा-जाही बहुत कम थी, लिहाजा ड्राइवर कारको ८०-९० कि०मी० प्रति घण्टेकी स्पीडसे और कभी-कभी एक सौकी स्पीडसे ले जा रहा था। पत्नी और बहू इतनी स्पीडसे घबरा रही थीं, पर कहना चाहकर भी कह नहीं पायीं, किसी अनहोनीकी आशंकासे भयभीत हो वे भगवान्‌को याद कर रही थीं। कुछ देरके लिये मेरी मति भी जैसे जड़ हो गयी। मैं भी ड्राइवरको सावधान न कर पाया।

होनी थी, हमलोग भोपालसे करीब ६५-७० किलोमीटर दूर कुरावर-नरसिंहगढ़ मार्गपर जा रहे थे कि अचानक सड़कका मोड़ आ गया, जिसका अनुमान न तो मुझे था और न ही ड्राइवरको। धर्मपत्नी और बहू देवताओंको याद कर रही थीं। छोटी बच्ची अपनी दादीकी गोदमें सो रही थी। मोड़ आते ही ड्राइवर घबरा गया और ब्रेकके बजाय एक्सीलेटर दबा दिया। मोड़पर मिट्टीका टीला था, जिससे टकराकर कार उछली और कुलाँचें खाती हुई झाड़ियोंके बीच उलटकर एक ओर झुक गयी। ड्राइवर तो पहले ही सामनेका काँच अलग हो जानेसे कूदकर बाहर निकल गया तथा मैं भी उसी तरह बाहर निकल पड़ा। धर्मपत्नी प्रभुनामका जप करते हुए बच्चीको कसकर गोदीमें लिये थी और बहू अनजाने भयसे रोती हुई काँप रही थी। यह हादसा जहाँ हुआ, वह स्थान 'तीन बल्ली चौकी बड़ोदिया'- के नामसे जाना जाता है, जहाँ बाल हनुमान्‌जीके मन्दिरका निर्माण-कार्य चल रहा था। वहाँ उपस्थित लोग तुरंत दौड़े आये। मन्दिर-निर्माण-समितिके अध्यक्ष और उनके साथियोंने किसी प्रकार कारको सीधा करके धर्मपत्नी, बहू और बच्चीको बाहर निकाला। दो-तीन लोग ड्राइवरकी मरहमपट्टी करनेमें लग गये। उसे आँखके ऊपर थोड़ी चोट लगी थी, परंतु देवीकी कृपा कि हममेंसे किसीको खरोंचतक नहीं आयी।

सबसे पहले हमलोग हनुमान्‌जीके मन्दिर गये। वहाँसे प्रसाद ग्रहण करके और ईश्वरका आभार मानकर वापस लौटे। वहाँ जमा लोगोंने बताया कि इस स्थानपर प्रत्येक वाहनकी गति धीमी करनी जरूरी रहती है अन्यथा कुछ-न-कुछ मुसीबत उठानी पड़ती है। हमारे साथ भी कुछ वैसा ही हुआ। ड्राइवरको तो उसकी गलतीकी थोड़ी सजा मिली, परंतु हम चारोंको अदृश्य शक्तिने बचा लिया। यही नहीं, हमारी कारका इंजिन जरा भी क्षतिग्रस्त नहीं हुआ और मैं कारको करीब ७० किलोमीटर चलाकर भोपाल वापस ले आया तथा ड्राइवरका उपचार कराया। धर्मपत्नी, बहू और बच्चीको बसमार्गसे देवीपूजनके लिये शाजापुर रवाना कर दिया। मुझे बार-बार देवी माँकी कृपाका खयाल आता था कि उन्हींकी कृपासे आज हम सभी बच सके। हम प्रातः घरसे देवीकी पूजा और दुर्गाजीके रक्षाकवचका पाठ करके निकले थे। सम्भवतः उसीका यह प्रभाव था कि हम बच गये। मुझे लगा कि मारनेवालेसे बचानेवालेके हाथ ज्यादे मजबूत होते हैं।

—कैलास नारायण

(२)

भगवान्‌की कृपा

बात आजसे लगभग छः-सात साल पुरानी है, किंतु वह घटना मेरे लिये इतनी रोमाञ्चक थी कि आज भी ज्यों-की-त्यों याद है। उन दिनों जयपुरमें लोहेके सरिये बनानेकी मेरी फैक्ट्री थी। रविवारका दिन था, उस दिन फैक्ट्री बंद थी और कोई आदमी भी वहाँ नहीं था। चौकीदार छुट्टीपर गया हुआ था, इसलिये मैं वहाँ दिनभर ऑफिसमें बैठा रहा।

सोच रहा था कि शामको लाइट जलाकर मैं घर जाऊँगा। शामके समय मैंने स्विच चालू किया पर फैक्ट्रीमें लाइट नहीं जली। मैंने सोचा—आगे चलकर देखता हूँ, लगता है कहीं शार्ट-सर्किट हो गया है। आगे बढ़नेपर मैंने देखा कि कुछ दूरीपर एक जगहसे तार टूटे हैं तथा पासमें ही एक गड्ढा है। विचार किया कि इन तारोंको यदि जोड़ दूँ तो बिजली चालू हो जायगी। जैसे ही मैंने बिजलीके तारोंको जोड़ा कि एकदम उसमें करंट चालू हो गया; क्योंकि ऑफिसमें स्विच खुला छोड़ आया था। मेरा हाथ उन तारोंपर ही चिपक गया और इतना तेज करंट मेरे शरीरमें लगा कि पासमें जो गड्ढा था उसमें मैं गिर पड़ा, पर तार मेरे हाथसे चिपका रहा। चिपका हुआ हाथ ऐसा लग रहा था कि पिघलता जा रहा है। पूरा शरीर धीरे-धीरे सुन्न होता जा रहा था। दिमागने काम करना बंद कर दिया। मैं जोरसे चिल्लानेकी कोशिश कर रहा था, पर आवाज ही नहीं निकल रही थी। मुझे सामने मौत नजर आ रही थी। आस-पास कोई था भी नहीं जो आकर मुझे बचाता। मुझे लगा मैं अब मरनेहीवाला हूँ। पूरा शरीर सुन्न हो गया था। इतनेमें पता नहीं, भगवान्‌की कृपा हुई या मेरी माँके आशीर्वादका फल था कि अचानक मेरा दायाँ पैर अपने-आप उठा और उसके द्वारा तारपर जोरसे आघात हुआ। चूँकि पैरमें जूता था इसलिये तार एकदम अलग हो गया और उसमें करंट पास होना बंद हो गया। मेरे दिमागने काम करना चालू कर दिया। मैं उस समय गड्ढेमें गिरा हुआ था और कम-से-कम १० मिनट वहीं पड़ा रहा। भगवान्‌को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया कि आज उन्होंने मुझे बचा लिया। वरना करंट लगनेके १०-२० सेकेण्डमें ही आदमीका बचना मुश्किल रहता है। फैक्ट्रीमें तो वैसे भी बहुत हाई वोल्टेजकी बिजली रहती है। फिर धीरे-धीरे उस जगहसे उठकर मैं ऑफिसतक आया और घर फोन किया। मेरे उस हाथमें इतनी सुन्नता आ गयी थी कि दो-तीन सालमें जाकर हाथ पूर्णरूपसे ठीक हुआ। उस दिनके बादसे मेरी भगवान्‌के प्रति श्रद्धा बहुत बढ़ गयी और यह विश्वास बन गया कि एक भगवान् ही हैं, जो सभीको हर मुसीबतसे बचा सकते हैं। अतः प्रत्येकको चाहिये कि हर समय भगवान्‌की कृपाका ख्याल करते रहें।

—उमेशचन्द खुटे

(३)

गोमाताकी सेवासे

मेरे पूर्वज गाँवमें सदा सम्पन्न रहे, मेरे पिताजीका जीवन भी उन्नत रहा, वे चार-पाँच घंटे ईश्वराराधनमें लगाते और शेष समय साहूकारी, गल्ला-बीजके देनेमें तथा खेतीके कार्यमें व्यतीत करते। इस कार्यमें उनका खूब मन लगता। उन्होंने भूमि भी पर्याप्त एकत्र कर ली थी। वे कृषि बहुत उत्तम तरीकेसे करते। गाँवके लोगोंपर उनका प्रभाव था और सब लोग उनसे संतुष्ट रहते थे। पिताजीके परलोकगमनके बाद गृहस्थीका सारा दायित्व मुझपर आ पड़ा। किंतु क्रमशः सम्पत्तिका ह्रास होने लगा। थोड़े ही समयमें मेरी सम्पत्ति आधी रह गयी। भूमिका कार्य स्थगित हो गया। बीजका गल्ला सब डूब गया। पैसेकी आय बंद हो गयी। खेतीसे अन्न कम होने लगा और अधिकांश जमीन परती पड़ गयी। देखते-देखते सारा काम चौपट हो गया।

मैं रात-दिन चिन्तित रहने लगा। भाग्यने जैसे मेरा साथ छोड़ दिया था। मैं जिस कार्यमें हाथ डालता, उसीमें असफल होता। मेरे दो और छोटे भाई हैं। उन लोगोंकी इच्छासे मुझे उनसे पृथक् होना पड़ा। सारी सम्पत्ति तीन भागोंमें बराबर-बराबर बाँटकर हम सब अपना-अपना कार्य चलाने लगे। चार वर्ष बीत गये, किंतु मेरी दशा उत्तरोत्तर अवनत ही होती गयी। गाँवके लोग मुझे निरुद्यमी और आलसी कहने लगे। मुझपर ऋण भी काफी हो गया। यहाँतक कि अनाजके लिये भी मैं दूसरोंका मुँह देखने लगा। जिनको मैं गल्ला और रुपया दिया करता था, अब उनके द्वारपर मुझे दौड़ना पड़ता, किंतु इतना होनेपर भी मैं धैर्य नहीं छोड़ सका और भगवान्‌का भरोसा मेरे मनमें ज्यों-का-त्यों बना रहा।

एक दिन चिन्तित-मन चारपाईपर मैं लेटा हुआ था कि मेरी आँख लग गयी। निद्रामें मुझे लगा कि बैल-गाय

मुझे मारने दौड़ रहे हैं और मनुष्यकी भाषामें बोलते हुए मुझसे कह रहे हैं कि 'अभी हम तुझे और तंग करेंगे। तूने अपने खाने-पीनेके सिवा कभी हमारी भी खबर ली है कि हम भूखे या प्यासे हैं? सारों (गोशाला)-में कभी जाकर देखा भी है कि वह साफ है या हम गोबर-मूत्रमें पड़े हैं? तू अपने इसी पापका परिणाम भोग रहा है। तू अब भी चेत जा और अपना तरीका बदल दे, नहीं तो अन्ततः तेरा सर्वनाश हो जायगा।'

गाय-बैलोंके वचन सुनकर मुझे बहुत व्यथा हुई और मैं चौंककर जाग उठा। मैंने देखा, यह तो स्वप्न था। रात आधीसे अधिक बीत चुकी थी। किंतु मैं उसी समय लालटेन लेकर गोशालामें गया। वहाँ देखा, सारे पशु भूखे खूँटेसे बँधे हैं। उनके आगे घास-भूसाका एक तिनका भी नहीं, कूड़ेका तो ढेर लगा है। मैं मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगा। मैंने उसी क्षण अपने हाथसे गोशालाको साफ करना शुरू किया और दिनके दस बजेतक गोशालाकी सफाईमें लगा रहा। उस दिनसे हर समय मैं अपने जानवरों एवं गोशालापर ध्यान रखने लगा। प्रातः-सायं गो-दुग्ध अपने हाथसे दुहना और चारा-घास एवं स्वच्छ जल अपने सामने डलवाना मेरा मुख्य कर्तव्य हो गया। मेरे गाय-बैल जब चरने जाते, तब मैं गोशाला अपने हाथोंसे साफ करता। कूड़ा-करकट अलग गड्ढेमें डालता और उसकी अच्छी खाद बनती। जानवर सुखपूर्वक रहने लगे। मेरे जानवर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हो गये। घृत-दुग्ध पर्याप्त मिलने लगा। बैलोंके सुस्वास्थ्यके कारण मेरी कृषि चमक उठी और अनाज पाँच-छः-गुना अधिक उत्पन्न होने लगा। खेतीमें मेरी रुचि बढ़ गयी और निराशा दूर हो गयी। ऋण भी अधिकांश चुका दिया गया। मेरी स्थितिमें काफी परिवर्तन हो गया। मुझे निरुद्यमी, आलसी और अभागे कहनेवाले लोग अब मेरी प्रशंसा करने लगे।

यह घटना बिलकुल सच्ची है। रईसीके चक्करमें मैं अपनी सम्पत्तिका नाश कर चुका था, किंतु आज ईश्वरकी कृपा, गो-माताकी आशिष् और अपने हाथोंसे काम करनेके कारण मेरी दशा अत्यन्त सुन्दर हो गयी। यदि कोई गो-पालक कृषक भाई मेरी तरह दरिद्रनारायणके शिकार हो गये हों तो उन्हें मेरे पथका अनुसरण करना चाहिये। मैं डंकेकी चोट कहता हूँ कि भगवान्पर विश्वास और गो-माताकी सेवासे बुरी-से-बुरी हालत बदलकर अच्छी हो जायगी।

—एक गो-सेवक कृषक

(४)

पशुओंमें भी सहृदयता होती है

यह घटना अगस्त १९७५ की है, दिनाङ्क ठीक-ठीक स्मरण नहीं। बाल-सूर्यकी स्वर्णिम रश्मियाँ धीरे-धीरे पृथ्वीपर आ रही थीं। मैं डेयरीसे दूध लेने जानेकी तैयारीमें ही था कि एक कुत्तेका चीत्कार रह-रहकर मेरे कानोंमें गूँजने लगा। मैंने खिड़कीमेंसे झाँककर देखा कि मेरे पड़ोसकी पाठशालाके लोहेके फाटकमें एक कुत्तेकी गर्दन फँस गयी है और वह निकलनेके लिये बुरी तरह छटपटा रहा है।

मुझसे यह नहीं देखा गया, अतः शीघ्रतासे दौड़कर मैं वहाँ पहुँचा तथा उसकी गर्दन उस फाटकमेंसे निकालनेका प्रयत्न करने लगा। फाटकपर लोहेकी जंजीर लगी थी और उसपर ताला लगा हुआ था। फाटकके दोनों भागोंकी दूरीको फैलाने (बढ़ाने)-के लिये मैंने उन्हें खींचा, किंतु उसकी गर्दन नहीं निकल पायी। कुत्तेकी तड़प बढ़ती ही जा रही थी।

मोहल्लेवाले भी अपने-अपने दरवाजे और खिड़कियोंसे यह दृश्य देख रहे थे। दस-पंद्रह मिनटके प्रयत्नके बाद भी जब मुझे कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई, तब मैं हताश हो गया।

अचानक एक कुत्तेने जो कुछ ही क्षण पूर्व इसी कुत्तेके साथ खेल रहा था, आकर उसके पिछले पैरको अपने मुखमें दबाकर एक झटकेमें उसकी गर्दनको जादूकी तरह उस फाटककी फाँसीसे मुक्त कर दिया।

एक जानवरद्वारा अपने साथीके प्राण बचानेके लिये किये गये प्रयत्नका चमत्कार देखकर मैं तथा सभी पड़ोसी हर्षसे खिल उठे। —जोगेन्द्रसिंह छाबड़ा

मनन करने योग्य

अहंकार और मानवता

लगभग सवा दो सौ वर्ष पहले अमेरिका भी हमारे देशकी भाँति एक गुलाम देश था। जार्ज वाशिंगटनने ही अमेरिकाको स्वतन्त्र कराया था।

जार्ज वाशिंगटन एक लोकप्रिय नेता तथा सफल सेनानायक थे। अमेरिकाकी जनता तथा सेना जी-जानसे उन्हें चाहती थी। जब उनकी सूझ-बूझ तथा कुशल सैन्य-संचालनसे अमेरिका सन् १७८१ ई० में स्वतन्त्रता-संग्राममें विजयी हुआ और इंग्लैण्डकी दासतासे मुक्त हो गया, तब सेनाके अधिकारियोंने उन्हें अमेरिकाका सम्राट् बनाना चाहा। इस योजनाके अधिष्ठाता कर्नल निकालेलाने एक पत्रद्वारा जार्ज वाशिंगटनको यह शुभ सूचना दी तथा उनकी स्वीकृति माँगी।

सूचना पढ़कर जार्ज वाशिंगटनकी आँखोंसे अश्रुधारा फूट पड़ी। उन्होंने उत्तरमें अश्रुओंसे भीगे हुए कागजपर लिखा—'आजतक मुझे जीवनमें किसी भी घटनासे इतना कष्ट नहीं हुआ, जितना इस समाचारसे। मैं ऐसे विचारोंसे घृणा करता हूँ तथा उनकी कठोर निन्दा करता हूँ। इंग्लैण्डके सम्राट् और अमेरिकाके सम्राट्में क्या अन्तर है? क्या इसीलिये इतना खून-खराबा किया गया कि सम्राट् इंग्लैण्डका नहीं, अमेरिकाका होना चाहिये? व्यक्तिसे राष्ट्र बड़ा है। व्यक्तिकी खातिर राष्ट्रका गला नहीं घोंटना चाहिये। राष्ट्रके हितमें ही सबका हित निहित है। अतः यदि आपको मेरा तथा अपनी भावी संततियोंके हितका कुछ भी ध्यान है, यदि आपके हृदयमें मेरे प्रति कुछ भी सम्मानकी भावना है तो आप इस तरहके विचारोंको अपने मनसे निकाल दीजिये और राष्ट्रमें लोकतन्त्र स्थापित करनेमें मेरा सहयोग कीजिये। मोहान्ध न बनिये, विवेकसे काम लीजिये। श्रद्धा-सुमन विवेकके प्रकाशमें ही खिलते हैं।'

अन्तमें अमेरिकामें लोकतन्त्रकी स्थापना हुई। जार्ज वाशिंगटन राष्ट्रपति चुने गये। दूसरी बार भी वही राष्ट्रपति चुने गये। तीसरी बार जब जनताने पुनः सर्वसम्मतिसे उन्हें राष्ट्रपति बनाना चाहा तो उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि बार-बार एक ही व्यक्तिके राष्ट्रपति बननेसे राजतन्त्र या अधिनायकवादकी नींव पड़ सकती है।

जार्ज वाशिंगटन कभी-कभी गुप्तरूपसे लोगोंमें आया-जाया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि कुछ मजदूर एक भारी लट्ठा छतपर नहीं चढ़ा पा रहे हैं। पासमें खड़ा जमादार मजदूरोंको उत्साहित तो कर रहा है, पर स्वयं हाथ नहीं लगाता है।

'तुम हाथ क्यों नहीं लगाते?' राष्ट्रपतिने पूछा।

'मैं जमादार हूँ। मेरा काम मजदूरोंसे काम लेना है, काम करना नहीं।' जमादारके उत्तरमें अकड़ थी।

'अच्छा!' कहकर राष्ट्रपति स्वयं मजदूरोंके साथ जोर लगाने लगे। जब लट्ठा ऊपर पहुँच गया, तब राष्ट्रपतिने जमादारसे कहा—'जमादार साहब! यदि फिर कभी सहयोगकी आवश्यकता आ पड़े तो मुझे बुला लेना। मैं तुम्हारा राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन हूँ।'

यह सुनते ही जमादारके पैरोंके नीचेकी जमीन खिसक गयी। वह हक्का-बक्का रह गया और उनके चरणोंपर गिरकर क्षमा माँगने लगा। राष्ट्रपतिने कहा—'तुम अहंकारका प्रदर्शन कर रहे हो और मैं नम्रतामें मानवताका दर्शन कर रहा हूँ। मैं तुम्हें इस शर्तपर क्षमा करता हूँ कि भविष्यमें कभी पुनः मानवताका निरादर न हो। जिस राष्ट्रमें मानवताका सम्मान नहीं, वह राष्ट्र राष्ट्र कहलानेयोग्य नहीं होता।'

(श्रीहरनारायणजी 'महाराज')

क्षमा धर्मः क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा यशः।
क्षमा स्वर्गस्य सोपानमिति वेदविदो विदुः॥

'वास्तवमें क्षमा ही धर्म, क्षमा ही सत्य और क्षमा ही दान, यश एवं स्वर्गकी सीढ़ी है—ऐसा वेदके मर्मज्ञ विद्वानोंका कथन है।'

आगामी ७७वें वर्ष (सन् २००३ ई०)-का विशेषाङ्क

'भगवत्प्रेम-अङ्क'

'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥' सर्वव्यापक परमात्मप्रभुका प्राकट्य प्रेमसे ही होता है। अत: भगवत्प्राप्तिके लिये प्रेम-साधनाकी अत्यन्त आवश्यकता है। यह प्रेम-साधना एक विलक्षण साधन है। इसमें विलक्षणता यह है कि इस साधनमें प्रारम्भसे ही केवल माधुर्य-ही-माधुर्य है, खारापन तो है ही नहीं। प्रेम-साधना स्वाभाविकरूपसे चलती है रागको लेकर। अत: भगवान्‌में अनुरागको लेकर प्रेमकी साधनाका प्रारम्भ होता है। एकमात्र भगवान्‌में अनन्य राग हो जानेपर संसारकी अन्य वस्तुओंमें रागका अभाव हो जाना स्वाभाविक है। सांसारिक वस्तुओंसे राग निकल जानेके कारण इनमें द्वेष भी नहीं रहता। इस प्रकार प्रेमी साधक राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे स्वाभाविकरूपमें मुक्त होता है। इसलिये प्रेम-साधनामें कहीं भी कड़ुवापन नहीं है।

इसके साथ ही प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप है। जिस प्राणीको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वास्तवमें उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी, यह मानना चाहिये। इस प्रकार प्रेम 'साधन' और साधनका फल—'साध्य' दोनों है। भगवान् स्वयं प्रेममय हैं, भगवान् ही प्रेम करने योग्य हैं और भगवान्‌को प्राप्त करनेका साधन भी प्रेम ही है, अत: प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद स्वयं प्रभु ही हैं।

प्रेमसे लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं। लोकमें प्रेमकी भावनासे व्यक्तिका उत्कर्ष होता है और परलोकमें अखण्ड आनन्द तथा शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है।

प्रभु-प्रेरणासे आगामी वर्ष २००३ ई०में 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें '**भगवत्प्रेम-अङ्क**' प्रकाशित करनेका निर्णय किया गया है। वास्तवमें भगवत्प्रेमका अवलोकन, चिन्तन और मनन भगवत्प्राप्तिका एक अमोघ साधन है।

इस बार यह निश्चय किया गया कि सर्वसामान्य प्रेमीजनोंके कल्याणार्थ प्रभुकृपाका आश्रय लेकर परमात्मप्रभुके श्रीचरणोंमें श्रद्धा-सुमनके रूपमें '**भगवत्प्रेम-अङ्क**' प्रस्तुत किया जाय, जिससे भारतीय जनमानसको परब्रह्म परमात्मप्रभुके प्रेमका तथा प्रेमपूर्ण लीलाओंका सम्यक् दर्शन, चिन्तन एवं मनन हो सके तथा संसारके प्रेमी भक्तजनोंमें प्रभु-प्रेमके प्रति प्रगाढ़ता, एकाग्रता और अनन्यताका उदय हो। इन सबके लिये हम भारतके गण्यमान्य आचार्य, संत-महात्माओं तथा अधिकारी मनीषी महानुभावों एवं प्रेमी भक्तोंसे सादर सहयोगकी प्रार्थना करते हैं।

हमारा विचार है कि आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुके प्रेममय स्वरूपका, उनके दिव्य गुणोंका, उनके अलौकिक प्रेम-रहस्योंका, प्रेममयी लीलाओंका तथा ऐकान्तिक प्रेमी भक्तों, प्रेमी सेवकों, प्रेमी उपासकों एवं मित्र-भावान्वित तथा शत्रु-भावान्वित प्रेमी सहचरोंके विभिन्न चरित्रोंका यथास्थान चित्रण करते हुए भगवत्प्रेमका दर्शन तथा साथ ही प्रेम-रहस्योंका उद्घाटन और प्रेमकथाके प्रत्येक पक्षपर पठनीय, विचारप्रेरक तथा अनुष्ठेय सामग्रीका संकलन इस विशेषाङ्कमें किया जाय। अतएव विद्वज्जनों तथा प्रेमी साधकोंकी सेवामें विशेषाङ्ककी एक विषय-सूची दिशा-निर्देशके रूपमें साथ ही दी जा रही है।

यद्यपि इस वर्ष विशेषाङ्कके लिये सामान्य लेख भेजनेका अनुरोध नहीं है; फिर भी विद्वान् लेखकों एवं प्रेमी साधकोंसे हमारी विनम्र प्रार्थना है कि अपने चिरस्वाध्याय, प्रेम-साधना तथा प्रेमानुभूतिके आधारपर प्रस्तुत सूचीमें संलग्न विषयोंपर तथा भगवत्प्रेमसे सम्बद्ध किसी भी विषयपर अपनी विशिष्ट सामग्री ३१ जुलाई २००२ ई०से पूर्व अवश्य भेजनेकी कृपा करें।

(सरल एवं रोचक भाषामें विषयसे सम्बद्ध संक्षिप्त विशिष्ट सामग्रीको प्रकाशनमें प्राथमिकता दी जा सकेगी।)

विनीत—

राधेश्याम खेमका

(सम्पादक)

विषय-सूची

१- प्रेमतत्त्व-मीमांसा।
२- प्रेमका अर्थ एवं उसका स्वरूप।
३- प्रेमतत्त्व और भगवत्तत्त्व।
४- भगवत्प्रेमका स्वरूप।
५- प्रेम और भक्तिका परस्पर सम्बन्ध।
६- आसक्ति, अनासक्ति और भगवत्प्रेम।
७- प्रेमा-भक्तिका स्वरूप।
८- प्रेम ही परमात्मा है।
९- प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पदकी अभिन्नता।
१०- 'प्रेम' साधन और साधनोंका फल—दोनों है।
११- 'साधन सिद्धि राम पग नेहू'।
१२- प्रेमका आस्वादन अनुभवगम्य।
१३- अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।
१४- अनिर्वाच्य प्रेमकी अभिव्यक्ति।
१५- 'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं।'
१६- प्रेमका पंथ जितना ही सुगम उतना ही कठिन है।
१७- लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम।
१८- प्रेमके सात्त्विक विकार—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय।
१९- प्रेमभाव दास्य, सख्य, माधुर्य तथा वात्सल्य आदि भावोंसे विलक्षण।
२०- प्रेमका उत्कृष्ट आदर्श—अणु-अणुमें व्याप्त प्रेमास्पदके स्वरूपका दर्शन।
२१- प्रेममें समर्पण, अनन्यता और तन्मयताका महत्त्व।
२२- प्रेममें आदान नहीं प्रदान है, लालसा नहीं उत्सर्ग है।
२३- प्रेम-साधना और प्रेम-योग।
२४- प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व।
२५- विरह और मिलनमें प्रेमकी अवस्था।
२६- मोह और प्रेममें अन्तर।
२७- मोह दुःखरूप और प्रेम आनन्दरूप।
२८- रागसे मोह और अनुरागसे प्रेमकी प्राप्ति।
२९- परिवारमें प्रेमकी आवश्यकता और महत्ता।
३०- सामाजिक परिवेशमें प्रेमकी आवश्यकता।
३१- देशप्रेम और राष्ट्रप्रेमका स्वरूप।
३२- विश्वप्रेम और विश्वबन्धुत्व।
३३- 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वप्रेमदर्शन।
३४- प्रेम, प्रीति, मैत्री, सौहार्द तथा भक्तिकी सूक्ष्म विवेचना।
३५- प्रेम ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रेम है और प्रेम ही पूजा है।
३६- प्रेम भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है।
३७- हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
३८- प्रेमयोग और भक्तियोग।
३९- 'तत्सुखे सुखित्वम्' ही भगवत्प्रेमका सार है।
४०- 'मत्सुखे सुखित्वम्' में स्वार्थ है, त्याग नहीं।
४१- गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतर-मनुभवरूपम्।
४२- तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
४३- प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥
४४- प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥
४५- जाकों लहि कुछ लहन की चाह न हिय में होय।
जयति जगत पावन करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥
४६- अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥
४७- रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
४८- सत्सङ्गसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति।
४९- प्राणिमात्रके प्रति मैत्रीकी भावनासे भगवत्प्रेमका उद्भव।
५०- विश्वको प्रेमास्पदका स्वरूप समझकर सबकी सेवाका भाव रखनेसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति।
५१- दीनों, अनाथों और असहायोंपर करुणा तथा प्रेमका भाव—भगवत्प्रीतिका आधार।
५२- प्रकृतिमें ईश्वरप्रेमका दर्शन।
५३- वशीकरणका मूल मन्त्र—प्रेम।
५४- भगवत्प्रेम और विश्वप्रेमका स्वरूप।
५५- विश्वके विविध धर्मों—जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, यहूदी, इस्लाम आदिमें प्रेमोपासना।
५६- मातृप्रेम और मातृभक्ति, पितृप्रेम और पितृभक्ति।
५७- गुरु, आचार्य और श्रेष्ठजनोंमें प्रेमभावना।
५८- भ्रातृप्रेम और भ्रातृभक्ति।
५९- आदर्श दाम्पत्य प्रेमका स्वरूप।
६०- मैत्री धर्म और सख्य प्रेमका निर्वाह।
६१- वेद-वेदाङ्ग तथा उपनिषदादि ग्रन्थोंमें भगवत्प्रेमकी साधना।
६२- वैदिक सूक्तोंमें समर्पण और प्रेमका भाव।
६३- गीतामें भगवत्प्रेमका ही गीत।
६४- श्रीमद्भागवतमें प्रेमसाधनाका निरूपण।
६५- पुराणोंमें भगवत्प्रेमका दर्शन।

६६- रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें भगवत्प्रेम-लीलाका निरूपण।

६७- भक्तमाल, प्रेमपत्तनम् तथा प्रेमसागर आदि सद्ग्रन्थोंमें वर्णित प्रेमका प्रतिपादन।

६८- राधा-माधव-प्रेम-दर्शन।

६९- मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका भगवत्प्रेम।

७०- प्रेमी संतों तथा प्रेमी भक्तोंके लक्षण।

७१- प्रेमी भक्तोंके भगवत्प्रेमका स्वरूप और उनका पावन चरित— [नर-नारायण, मनु-शतरूपा, नारद, वाल्मीकि, वेदव्यास, शाण्डिल्य, शौनक, सुतीक्ष्ण, पुण्डरीक, रुक्माङ्गद, अम्बरीष, दाल्भ्य, महामुनि शुकदेव आदि]

७२- श्रीरामकथाके प्रेमी पात्र—

(क) मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम।

(ख) प्रेमकी प्रतिमूर्ति—जगज्जननी सीता।

(ग) भ्रातृप्रेमके आदर्श—भरतजी (भयउ न भुअन भरत सम भाई)।

(घ) भ्रातृभक्त—लक्ष्मण।

(ङ) दास्य प्रेमके आदर्श—श्रीहनुमान्जी।

(च) सख्य प्रेमके आदर्श—श्रीसुग्रीवजी।

(छ) शरणागत-प्रेमके उदाहरण—श्रीविभीषणजी।

(ज) केवट और निषादराजकी प्रेमा-भक्ति।

(झ) जाम्बवान् तथा अङ्गदकी प्रेमनिष्ठा।

(ञ) भगवत्प्रेमकी मूर्तिमयी उपासना—श्रीशबरी।

(ट) विदेहराज जनकजीकी अनुरागात्मिका भक्ति।

(ठ) कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्राका वात्सल्यभाव।

(ड) महाराज दशरथका वात्सल्यप्रेम।

(ढ) अहल्याका भगवच्चरणोंमें अनुराग।

७३- श्रीकृष्णलीलाके प्रेमी पात्र—

(क) लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण।

(ख) भगवत्प्रेमकी निवासभूता वंशी।

(ग) प्रेमकल्पलता श्रीराधाजी।

(घ) प्रेमकी मूर्तिरूपा महाभावमयी व्रजगोपियाँ।

(ङ) वात्सल्यप्रेमकी प्रतिमूर्ति—माता यशोदा।

(च) वात्सल्यप्रेमी श्रीनन्दजी।

(छ) भगवान्के बाल-सखाओंका सख्य प्रेम।

(ज) प्रेमी सखा उद्धव।

(झ) प्रेमी भक्त अक्रूर।

(ञ) विदुर एवं विदुरानीका भगवच्चरणोंमें अनन्य प्रेम।

(ट) पितामह भीष्मकी अनन्य भक्ति।

(ठ) प्रिय सखा अर्जुनका अनन्य भगवत्प्रेम।

(ड) धर्मराज युधिष्ठिर तथा भाइयोंकी अनन्य निष्ठा।

(ढ) भगवत्प्रेमकी प्रतिमूर्ति—माता कुन्ती।

(ण) देवी द्रौपदीका श्रीकृष्णप्रेम।

(त) प्रिय सखा सुदामाकी अलौकिक प्रेमनिष्ठा।

७४- भक्त ध्रुव और उनकी प्रेमसाधना।

७५- भक्त प्रह्लादका भगवत्प्रेम।

७६- पातिव्रत प्रेमकी प्रतिमाएँ—सीता, अनसूया, सावित्री आदि।

७७- राजा परीक्षित्का भगवत्प्रेम।

७८- श्रीमदाद्यशंकराचार्यकी प्रेममीमांसा।

७९- आचार्य-परम्परामें भगवत्प्रेमोपासना— रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्दाचार्य आदिका भगवत्प्रेम; संकीर्तनप्रेमी श्रीचैतन्यजी।

८०- हिन्दी-साहित्यमें संत कवियोंकी प्रेमसाधना— [संत-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी, वात्सल्यरसके प्रतिष्ठापक संत सूरदासजी, प्रेम-दीवानी मीराँ, श्रीकृष्ण-प्रेमी रसखान, संत कबीर, कविवर बिहारी आदि]

८१- रसिक-सम्प्रदायके प्रेमी भक्त।

८२- सूफी संतोंकी प्रेमोपासना।

८३- प्रेमसाधनासे अभिलाषाओंकी सिद्धि तथा असाध्य कार्योंमें सफलता।

८४- भगवत्प्रेमद्वारा अनन्त सुख एवं समृद्धिकी प्राप्ति।

८५- कर्तव्यपालनमें प्रेमकी आवश्यकता।

८६- अपने इष्टदेवमें नित्यप्रेमकी भावना।

८७- भगवदनुरागसे दिव्य ज्ञानकी उपलब्धि।

८८- भगवत्प्रेमसे दिव्यानन्दकी अनुभूति।

८९- प्रेमपंथ—कल्याणप्राप्तिका प्रशस्त पथ।

९०- भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म ही भगवत्प्रेमका मुख्य साधन।

९१- प्रेमसाधनासे अनन्त जन्मोंके पापोंका समूल विनाश।

९२- भगवत्प्रेमियोंपर समस्त प्राणियोंकी सहज कृपा।

९३- जीवनकी सार्थकताके लिये प्रेमनिष्ठाकी अनिवार्यता।

९४- प्रेमके अवलम्बनसे विश्वबन्धुत्व एवं विश्वशान्तिकी स्थापना।

९५- विशुद्ध प्रेमसे संतोंके सांनिध्यकी प्राप्ति।

९६- तीर्थाटन तथा देवदर्शनमें प्रेमभावकी प्रधानता।

९७- निष्काम कर्म ही भगवत्प्रेमका मूलाधार।

९८- आत्मोद्धारके लिये निःस्वार्थ भगवत्प्रेमका अवलम्बन आवश्यक।

९९- भगवत्प्राप्तिके लिये प्रेममें स्फुरण, स्पन्दनकी विशेषता।

१००- ऐकान्तिक एवं अनन्य प्रेमसे भगवत्प्राप्ति।

१०१- प्रेमा-भक्तिसे प्रेमस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभुकी प्राप्ति।

'कल्याण' का वर्तमान (सन् २००२ ई० का) विशेषाङ्क— 'नीतिसार-अङ्क'

वार्षिक शुल्क रु० १२० (सजिल्द रु० १३५), दसवर्षीय शुल्क रु० १२०० (सजिल्द रु० १३५०)

नीतिके उल्लंघन तथा नैतिक आचार-संहिताकी अवहेलनासे आज सम्पूर्ण मानव-समाज नाना दु:खोंसे संतप्त और विनाशकी आशंकासे ग्रसित है। नीतिका सीधा सम्बन्ध धर्मसे है। इसीलिये भारतीय मनीषियोंने इसपर गहन विचार किया है। हमारे शास्त्रोंमें भी धर्मनीति, राजनीति, लोकनीति एवं कूटनीति आदि विभिन्न नीतियोंका वर्णन प्राप्त होता है। इनका अध्ययन मानवमात्रके लिये उपयोगी एवं कल्याणकारी है, परंतु आजकी आपा-धापी (भाग-दौड़)-की जिंदगीमें इन बृहत् शास्त्रोंका अध्ययन कर पाना बहुत कठिन है। नीतिशास्त्रका आध्यात्मिक महत्त्व समझते हुए 'कल्याण' ने जनहितमें सन् २००२ ई० का विशेषाङ्क— **'नीतिसार-अङ्क'** प्रकाशित किया है, जो भाषाकी सरलता एवं हृदयग्राही सामग्रीके कारण पर्याप्त लोकप्रिय सिद्ध हो रहा है।

इस अङ्कमें नीतिका वास्तविक अर्थ, विभिन्न नीतियोंका स्वरूप, वेदादि शास्त्रोंमें वर्णित, भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण आदिके द्वारा प्रतिपादित एवं संत-महात्माओंद्वारा मानव-समाजके लिये दिये गये अनुकरणीय कल्याणकारी नीतिपथ, नैतिक शिक्षाके स्वरूप, चरित्र-निर्माणमें नीति-पालनकी आवश्यकता आदि विषयोंपर शिक्षाप्रद सुन्दर आख्यान प्रस्तुत किये गये हैं। प्रसङ्गानुसार बहुरंगे एवं सादे चित्रोंसे सुसज्जित अति उपयोगी इस विशेषाङ्कको मँगानेमें इच्छुक महानुभावोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५, (उ० प्र०)

गीताप्रेस, गोरखपुरसे कुछ नवीन प्रकाशन—छपकर तैयार

क्या करें, क्या न करें? (कोड नं० 1381)—श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवनके द्वारा संकलित एवं सम्पादित इस पुस्तकमें लगभग १०५ ग्रन्थोंके आधारपर आचार-व्यवहार-सम्बन्धी उपदेशोंका संग्रह किया गया है। वर्तमान समयमें यह पुस्तक सर्व-सामान्यको शास्त्रीय व्यवहारसे परिचित करानेकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी है। मूल्य रु० १६ मात्र।

गीतादर्पण (कोड नं० 1298) ओडिआ—परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा प्रणीत इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीताके गूढ़ भावोंको प्रश्नोत्तर-शैलीमें प्रस्तुत किया गया है। स्थान-स्थानपर प्रधान विषयोंकी सुबोध व्याख्या की गयी है। इसके अतिरिक्त इसमें गीताके व्याकरण और छन्दके सम्बन्धमें जानकारी भी दी गयी है। मूल्य रु० ३५ मात्र।

श्रीदुर्गासप्तशती (कोड नं० 1322) सानुवाद, पाठ-विधिसहित, बँगला—श्रीदुर्गासप्तशती हिन्दू-धर्मका सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसमें भगवतीकी कृपाके सुन्दर इतिहासके साथ अनेक गूढ़ रहस्य भरे हैं। सकाम भक्त इस ग्रन्थका श्रद्धापूर्वक पाठ करके कामनासिद्धि तथा निष्काम भक्त दुर्लभ मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस पुस्तकमें पाठ करनेकी प्रामाणिक विधि, कवच, अर्गला, कीलक, वैदिक-तान्त्रिक रात्रिसूक्त, देव्यथर्वशीर्ष, नवार्णविधि, मूल पाठ, दुर्गाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र, श्रीदुर्गामानसपूजा, तीनों रहस्य, क्षमा-प्रार्थना सिद्धिकुञ्जिकास्तोत्र, पाठके विभिन्न प्रयोग तथा आरती दी गयी है। विभिन्न दृष्टियोंसे यह पुस्तक सबके लिये उपयोगी है। मूल्य रु० १५ मात्र।

गीता-तात्पर्यसहित (कोड नं० 1390) मोटा टाइप [गुटका आकारमें] तेलुगु—नित्यपाठकी दृष्टिसे उपयोगी इस संस्करणमें मोटे टाइपमें गीताके श्लोकोंके साथ उनके भावार्थ और न्यास तथा ध्यानके मन्त्र दिये गये हैं। मूल्य रु० १० मात्र।

महाभारतके कुछ आदर्श पात्र (कोड नं० 1386) मराठी—हिन्दीसे मराठीमें अनूदित ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा प्रणीत इस पुस्तकमें धर्मराज युधिष्ठिर, भीष्म, अर्जुन, द्रौपदी, कुन्ती आदिके आदर्श चरित्रकी मनोहर व्याख्या की गयी है। मूल्य रु० ५ मात्र।

भगवान्के रहनेके पाँच स्थान (कोड नं० 1334) मराठी—हिन्दीसे मराठीमें अनूदित ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा सम्पादित इस पुस्तकमें पद्मपुराणके आधारपर मूक चाण्डाल, पतिव्रता ब्राह्मणी, तुलाधार वैश्य आदि उपाख्यानोंके माध्यमसे भगवान्के पाँच आवासोंकी सरस व्याख्या की गयी है। मूल्य रु० ३ मात्र।

उद्धार कैसे हो? (कोड नं० 1155) मराठी—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा अपने परिचितों एवं सत्संगियोंके अनेक व्यावहारिक एवं पारमार्थिक प्रश्नोंके समाधानके रूपमें लिखे गये पत्रोंके इस संग्रहमें प्रेम और शरणागति, सच्ची सलाह, साधना, क्रोधनाशका उपाय, भगवत्कृपा आदि ५१ विषयोंकी सुन्दर व्याख्या की गयी है। मूल्य रु० ४ मात्र।

नवधा भक्ति (कोड नं० 1275) मराठी—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा प्रणीत इस पुस्तकमें श्रीमद्भागवतमें वर्णित नवधा भक्तिके स्वरूपोंकी सुन्दर व्याख्याके साथ श्रीभरतजीके चरित्रमें नवों भक्तियोंकी सरस प्रस्तुति की गयी है। मूल्य रु० ४ मात्र।

दत्तात्रेय-वज्रकवच (कोड नं० 1332) पुस्तकाकार, सानुवाद, मराठी—यह कवच देवर्षि नारदके द्वारा प्रणीत तथा नारदपुराणसे संगृहीत है। इसके पाठसे समस्त विघ्नोंका नाश तथा आत्मसाक्षात्कार होता है। मूल्य रु० ३ मात्र।

खुल गयी—रायपुर शहरमें—गीताप्रेस, गोरखपुरकी निजी थोक-पुस्तक-दूकान;
मित्तल काम्प्लेक्स, गंजपारा, तेलघानी चौक, रायपुर—492009 (छत्तीसगढ़), © (0771) 634430

रजि० समाचारपत्र—रजि० नं० २३०८/५७
प्र० ति० २२-४-२००२

पंजीकृत-संख्या— NP/GR—13/02
LICENCE NO.-WPP/GR-03/2002

प्रस्तुत पुस्तकमें भगवान् श्रीरामकी प्रमुख आदर्श लीलाओंका संकलन किया गया है। मुख्यरूपसे इसमें सत्रह लीलाएँ हैं। प्रत्येक लीलाके सामने उससे सम्बन्धित आकर्षक रंगीन चित्र भी दिया गया है। बालकोंके लिये पुस्तक विशेष उपयोगी सिद्ध हो सके, इसका ध्यान रखते हुए सरल भाषा और छोटे-छोटे वाक्योंका प्रयोग इसमें किया गया है। आकर्षक आवरण-पृष्ठ और ऑफसेटकी सुन्दर छपाई इस पुस्तककी अन्य विशेषताएँ हैं। निश्चय ही इस पुस्तकको पढ़कर हमारे बालक, भगवान् श्रीरामके अनुकरणीय चरित्रको हृदयंगम कर सकेंगे। मूल्य रु० १० मात्र।

इसी प्रकार सत्रह बहुरंगे चित्रोंके साथ 'भगवान् श्रीकृष्ण'की प्रमुख लीलाओंका प्रकाशन भी शीघ्र ही किया जा रहा है।

इस अङ्कका मूल्य रु० ६ मात्र